ISSN : 2231-0509
वर्ष 21/अंक 3/मई-जून, 2019

# शिक्षा विमर्श

शैक्षिक चिंतन एवं संवाद की पत्रिका

# शिक्षा विमर्श

शैक्षिक चिंतन एवं संवाद की पत्रिका
वर्ष 21/अंक 3/मई-जून, 2019

**प्रधान संपादक** रोहित धनकर
**संपादक** प्रमोद
**प्रबंधक** रीना दास
**कला पक्ष** रामकिशन अडिग
**कम्प्यूटर/प्रसार प्रबंधन** ख्यालीराम स्वामी



संपर्क
शिक्षा विमर्श
दिगन्तर, खो नागोरियान रोड,
जगतपुरा, जयपुर-302017 राजस्थान
फोन : (0141) 2750310
मोबाईल नं. 9214181380 (प्रसार प्रबंधक)
ई मेलः shikshavimarsh@digantar.org
वेबसाइटः www.digantar.org



**सदस्यता राशि**

| | व्यक्तिगत | संस्थागत |
|---|---|---|
| एक प्रति | 55 | 80 |
| वार्षिक | 300 | 450 |
| द्वि-वर्षीय | 550 | 850 |
| तीन-वर्षीय | 750 | 1200 |
| आजीवन | 3000 | 4500 |

(रजिस्टर्ड डाक से मंगवाने के लिए प्रतिवर्ष 100 रुपये अतिरिक्त भिजवाएं)
ऑनलाईन राशि भेजने के लिए www.digantar.org देखें

'शिक्षा विमर्श' के लिए सभी भुगतान 'दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर' (Digantar Shiksha Evam Khelkud Samiti, Jaipur) के नाम देय मनीऑर्डर, डिमांड ड्राफ्ट अथवा चैक द्वारा किया जाए।



इस पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के हैं।
दिगन्तर की इन विचारों से सहमति हो यह जरूरी नहीं है।


## अनुक्रम


संपादकीय
आंकड़ों में बढ़त 3
❑ प्रमोद

शिक्षा का समाजशास्त्र
शिक्षा के समाजशास्त्रीय सिद्धांत-VII : पियेर बोर्डियु 5
❑ अमन मदान

लेख
क्या शिक्षा शांति में सहायक हो सकती है ? भाग-III 12
❑ कृष्ण कुमार

पड़ताल
भ्रमित सोच का एक उदाहरण
संदर्भः राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2019 का मसौदा 20
❑ रोहित धनकर

गणित का शिक्षणशास्त्र
गणित शिक्षण भाग-III : दस का दम (लिखने-पढ़ने में) 25
❑ रविकांत

साक्षात्कार
भाषा और मानकीकरण 32
❑ वीरेन डंगवाल के साथ फ़ैयाज़ अहमद की बातचीत

लेख
बच्चे : कठपुतली या कर्ता 38
❑ ऋषभ कुमार मिश्रा
अंधकारमय भविष्य की ओर बिहार की स्कूली शिक्षा 40
❑ आलोक रंजन
मैं 'विज्ञान' क्यों चुनूं? 44
❑ प्रेरणा शर्मा


मुख्य आवरण चित्र : यूनान व रोम की प्राचीन कला पर (पृष्ठ 31)


दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर के लिए सुश्री रीना दास द्वारा भालोटिया प्रिन्टर्स, 1/398 पारीक कॉलेज रोड, जयपुर-302006 से मुद्रित एवं दिगन्तर, खो नागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302017 से प्रकाशित

# आंकड़ों में बढ़त

हाल ही में नीति आयोग ने 'स्कूल एज्यूकेशन क्वालिटी इंडेक्स' जारी किया है। इस इंडेक्स में शिक्षा की गुणवत्ता के हिसाब से केरल पहले पर व राजस्थान दूसरे स्थान पर रहा है। इस इंडेक्स का आधार जो 30 सूचक या इंडिकेटर बने हैं उन्हें मोटे तौर पर दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है। इन दो श्रेणियों के भीतर फिर और श्रेणियां हैं :

- श्रेणी 1 : प्रतिफल या आउटकम आधारित
  - क्षेत्र/डोमेन 1 : लर्निंग आउटकम्स या सीखने के प्रतिफल
  - क्षेत्र/डोमेन 2 : पहुंच आधारित प्रतिफल
  - क्षेत्र/डोमेन 3 : आधारभूत संरचना व सुविधाओं पर आधारित प्रतिफल
  - क्षेत्र/डोमेन 4 : इक्विटी या समता आधारित प्रतिफल (इन चारों डोमन में कुल 16 मानक हैं)
- श्रेणी 2 : सरकारी प्रक्रियाओं से प्राप्त मदद पर आधारित
  - इसमें कितने छात्रों शिक्षा में शामिल हो पाए, शिक्षकों व छात्रों की उपस्थिति, शिक्षकों की उपलब्धता, प्रशिक्षण, स्कूल नेतृत्व, प्रर्याप्त प्रशासनिक ढांचा, जवाबदेही, पारदर्शिता आदि जैसे 14 मानक शामिल हैं।

इस इंडेक्स की शुरुआत सन् 2015-16 में की गई थी। उसके बाद इसे जारी करने का यह दूसरा (2016-17 के लिए) मौका है।

इस इंडेक्स में राजस्थान दूसरे स्थान पर आया है लेकिन उसकी आधारभूत संरचना व सुविधाओं पर आधारित प्रतिफल के मामले में स्थिति बेहद खराब है। उसके दूसरे स्थान पर आने की वजह लर्निंग आउटकम्स या सीखने के प्रतिफल बने हैं। यहां राष्ट्रीय उपलब्धि सर्वेक्षण (एनएएस) के आंकड़ों का उपयोग किया गया है। इन आंकड़ों में राजस्थान बेहतर प्रदर्शन करने वाले अव्वल राज्यों में शामिल रहा है। दूसरी ओर 'असर 2018-19' रिपोर्ट है जिसके आंकड़ों में राजस्थान उत्तर प्रदेश, पंजाब और बिहार के साथ सबसे खराब प्रदर्शन करने वाले पांच राज्यों में शामिल रहा है। हम जानते हैं कि असर रिपोर्ट बहुत व्यापक दक्षताओं व क्षमताओं का आकलन करने के लिए नहीं जानी जाती जबकि उसके सापेक्ष राष्ट्रीय उपलब्धि सर्वेक्षण (एनएएस) ज्यादा व्यापक दायरे में आकलन करता है। उसके बावजूद राजस्थान असर की रिपोर्ट में निचले पांच राज्यों में शामिल होता है और राष्ट्रीय उपलब्धि सर्वेक्षण (एनएएस) के आंकड़ों में अव्वल राज्यों में। आंकड़ों के इस खेल में क्या झोल है यह समझ से परे है।

इस इंडेक्स में सरकारी प्रक्रियाओं से प्राप्त मदद आधारित प्रतिफल के मामले में ज्यादातर राज्यों का प्रदर्शन खराब रहा है। इसका आशय है कि राज्य व केन्द्र सरकारों को शिक्षा में जितना निवेश करना चाहिए उतना निवेश नहीं कर रही हैं। हरियाणा ने आधारभूत संरचना व सुविधाओं पर आधारित प्रतिफल के मामले में जबरदस्त बढ़त दर्ज करवाई है। यानी स्कूलों में ढांचागत सुविधाओं के मामले में हरियाणा ने अच्छा काम किया है किन्तु सीखने के प्रतिफल के मामले में वह पीछे रहा है। यानी हरियाणा जैसे राज्यों में स्कूलों के लिए ढांचागत सुविधाएं तो हैं लेकिन शिक्षण के मामलों में वह पीछे है। ऐसे स्कूलों का फायदा क्या है?

असर की रिपोर्ट बताती है कि प्रत्येक 4 में से 1 छात्र पढ़ने की मूलभूत दक्षताएं हासिल किए बिना 8वीं कक्षा पार कर जा रहा है और असर के हिसाब से इसका मतलब है भाषा में शब्द व सरल वाक्य भी नहीं पढ़ पाना। गणित में यह घटाव या बाकी का सवाल हल नहीं कर पाना जैसी है। शिक्षा की इस हालत की ताकीद विभिन्न राज्यों में 9वीं कक्षा के स्तर पर तेजी से शुरू किए जा रहे कम समयावधि के वे ब्रिज कोर्स कर रहे हैं, जिनमें 9वीं में पहुंच गए बच्चों को पढ़ने-लिखने की मूलभूत दक्षताएं व क्षमताएं सिखाने का काम किया जा रहा है ताकि वे गणित, विज्ञान जैसे दूसरे विषयों को पढ़ पाने में समर्थ बन सकें। कम से कम उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, छत्तीसगढ़ और हरियाणा में 9वीं के स्तर पर ऐसे ब्रिज कोर्स चलाए जाने की जानकारी सामने आई है।

असर की रिपोर्ट बताती है कि साल 2010 से अब तक लगातार 6-14 वर्ष आयुवर्ग के बच्चों का नामांकन 96प्रतिशत के आसपास रहा है। इन वर्षों के दौरान नामांकन में 'जेंडर गैप' तेजी से कम हुआ है। 11-14 वर्ष आयुवर्ग की लड़कियों में स्कूल से बाहर छूट जाने वाली लड़कियों की संख्या में तेजी से कमी आई है। वर्ष 2006 से 2018 के दौरान लगभग सभी राज्यों में निजी स्कूलों में नामांकन तेजी से बढ़ा है। नीति आयोग के आंकड़े बताते हैं कि वर्ष 2016-17 में छात्र-छात्राओं की प्राथमिक स्तर (कक्षा 5) से उच्च प्राथमिक स्तर (कक्षा 6) में जाने की दर 90 प्रतिशत से भी ज्यादा रही है। 'न्यूपा' की रिपोर्ट- 'Elementary Education in India: Trend 2005–06 to 2015–16' बताती है कि 2009-10 से 2015-16 के बीच इसी दौरान निजी स्कूलों की संख्या भी तेजी से बढ़कर 2,54,178 से 3,34,468 हो गई जबकि इसी दौरान सरकारी स्कूलों की संख्या 13,03,812 से बढ़कर 14,49,078 हुई है। हम देख सकते हैं कि सरकारी स्कूलों की संख्या में उस अनुपात में बढ़ोतरी नहीं हुई है। इसी दौर में संविदा शिक्षकों की संख्या में बढ़ोतरी हुई है। 2019-10 में जहां संविदा शिक्षकों की संख्या कुल शिक्षकों की 11.0 प्रतिशत थी वहीं 2015-16 में यह संख्या 13.2 प्रतिशत हो गई।

जहां एक ओर यह आंकड़े शिक्षा की जबरदस्त मांग व पहुंच को दर्शाते हैं वहीं भाषा और गणित के आकलनों के परिणाम शिक्षा की लगातार गिरती जा रही गुणवत्ता को दर्शाते हैं। संविदा शिक्षकों की लगातार बढ़ती संख्या, निजी स्कूलों की संख्या में तेजी से होती बढ़ोतरी और शिक्षा के बजट में होती लगातार कटौती यह दर्शाती है कि शिक्षा में सरकारी निवेश लगातार कम होता जा रहा है। हम शिक्षा के सार्वजनीनकरण के लक्ष्य को हासिल करने की ओर लगातार बढ़ रहे हैं मगर गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के सार्वजनीनकरण से कोसों दूर हैं। जबकि गुणवत्ता शिक्षा का मूल व आवश्यक घटक है। क्या इसे इस नज़र से भी देखे जाने की जरूरत है कि जिस तेजी से समाज के वंचित तबके की भागीदारी शिक्षा हासिल करने में बढ़ी है उसी तेजी से शिक्षा की गुणवत्ता में कमी आई है! और क्या इसका हमारे समाज में मौजूद जाती, वर्ग, लिंग आदि आधारित विषमता से कोई गहरा रिश्ता है? क्या इस नज़र से इसकी समाजशास्त्रीय विवेचना किए जाने से कोई अंतर्दृष्टि हमें मिल सकती है!

हम आंकड़ों में चाहे कितनी भी वृद्धि हासिल कर लें, शिक्षा में सवाल यह है कि हम कितने निचले स्तर से शुरू कर रहे हैं और वृद्धि को कितने निचले स्तर पर दर्ज किया गया है? बहुत निचले स्तर पर दर्ज की गई बढ़त आंकड़ों में तो दिखेगी और शायद सफलता का ढोल पीटने के काम भी आए। लेकिन हकीकत में शिक्षा का कितना फायदा करेगी यह एक बड़ा सवाल है? ◆

प्रमोद

# शिक्षा के समाजशास्त्रीय सिद्धांत-VII

## पियेर बोर्दियु

अमन मदान

अनुवाद : जनित जैन

पियेर बोर्डियु (1930-2002) ने फ्रांस के एक छोटे से कस्बे में एक डाक कर्मचारी के घर जन्म लिया। पेरिस जैसे एक भद्र व ग्लैमर से भरपूर शहर में जब वे नृतत्वविज्ञान का अध्ययन करने गए तो उन्हें हर तरह के उस अपमान और दुत्कार का सामना करना पड़ा जो निम्न वर्ग और ग्रामीण इलाकों से आने वाले लोग दुनिया भर में झलेते रहे हैं। सुविधासम्पन्न परिवेश से आने वाले लोगों द्वारा अन्य लोगों को किस तरह खदेड़ा जाता है और अपने दायरे में प्रवेश पाने से रोका जाता है, इस पर बोर्डियु की गहरी अंतर्दृष्टि ही थी कि शिक्षा में उनके काम को बाद में लोकप्रियता हासिल हुई। स्कूलों और कॉलेजों में ताकतवर वर्ग की संस्कृति के लिए एक खास जगह थी और इस संस्कृति से नहीं होने का मतलब था एक अघोषित हिंसा का शिकार बनना जो छात्रों के सीखने और उनकी उपलब्धियों पर प्रहार करती थी। यही वह चिंता थी जो जीवन भर उनके काम में झलकती रही।

बोर्डियु ने यह समझने में मदद की कि किस तरह सामाजिक असमानता का पुनरुत्पादन तब भी हो रहा होता है जबकि बच्चे ऐसे स्कूलों में प्रवेश पाते हैं जो कि अच्छे स्कूल माने जाते हैं। उनका अधिकतर काम फ्रांस में था जहां उनके अपने दौर में भी एक व्यापक सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था मौजूद थी, जिसे भारत अब जाकर विकसित कर पाया है। उन्होंने तर्क दिया कि हालांकि ऐसा प्रतीत हो सकता है कि शिक्षा सभी के लिए उपलब्ध है फिर भी सिर्फ कुछ खास वर्गों से आने वाले बच्चे ही होते हैं जो आगे बढ़ते हैं और सबसे बेहतरीन महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में दाखिल होते हुए दिखाई देते हैं। यह समझने के लिए बोर्डियु ने एक सैद्धांतिक ढांचा प्रस्तुत किया। हालांकि भारत में संस्थानों का स्वरूप उससे काफी भिन्न है जो कि फ्रांस में है और ना ही हमारे यहां ऐसा कोई संरचनागत ढांचा या मदद मौजूद है जो वहां गरीब बच्चों को प्राप्त होती है फिर भी उनका काम हमारे उन सूक्ष्म तरीकों को समझने में प्रासंगिक है जिनके माध्यम से गहरी सामाजिक असमानताओं को अभिव्यक्त किया जाता है। यहां यह संकेत कर देना बेहतर होगा कि केवल अच्छे स्कूलों तक पहुंच को बढ़ा देना पर्याप्त नहीं है, शायद हमें इससे काफी आगे सोचना होगा।

### सांस्कृतिक पूंजी

जैसा कि हमने देखा है कि पारम्परिक मार्क्सवादी शिक्षा को आर्थिक पूंजी के अंतर के नजरिए से देखते थे। वे मानते थे कि स्कूल की पाठ्यचर्या और स्कूल की संस्कृति क्या आकार लेगी, ये उन लोगों से तय होता है जिनके पास अधिक संपत्ति है, विशेष तौर पर बड़े पूंजीपतियों द्वारा चलाए जा रहे उद्योगों की जरूरत से। बोर्डियु ने इस दायरे को विस्तृत किया और इसमें कई विभिन्न किस्म की पूंजी को शामिल किया- खास तौर पर सामाजिक व सांस्कृतिक पूंजी- जिसका होना या ना होना स्कूल और कॉलेज में होने वाले

जीवनानुभवों को आकार देता है। उन्होंने कहा कि आर्थिक पूंजी सीधे तौर पर केवल कुछ खास तरह के सामाजिक पहलुओं या सामाजिक क्षेत्रों पर असर डालती है। अन्य सामाजिक क्षेत्रों में जैसे संगीत, खेल या गणित में चीजें थोड़ी भिन्न हैं। एक बच्चा जिसके पास बहुत सम्पत्ती नहीं है लेकिन उसके माता-पिता पढ़ना-लिखना जानते हैं तो उस बच्चे के पास कक्षा में उस बच्चे की तुलना में अधिक पूंजी मौजूद है जिसके माता-पिता पढ़े-लिखे नहीं हैं। शिक्षा में सामाजिक असमानता को समझने की कुंजी इसी में निहित है कि पूंजी सिर्फ पैसा नहीं होता बल्कि यह किसी भी तरह का जमा श्रम हो सकता है। यह मानवीय श्रम से ही संभव हुआ कि मूल्यवान वस्तुओं, सेवाओं या कसी भी तरह की गुणात्मकता का सृजन हुआ। क्योंकि जमा की गई मानवीय श्रम आधारित पूंजी पूर्व में किए गए कई कामों और प्रयासों का जोड़ थी। जो लोग संगीत जैसे किसी क्षेत्र में गए और गायन के नियमित अभ्यास में अपनी ऊर्जा लगाई, उन्होंने अपने श्रम के माध्यम से एक खास किस्म की पूंजी का संचय किया। वर्षों बाद यही नियमित अभ्यास उनके लिए महत्वपूर्ण संसाधन बन गए और उनके मस्तिष्क व शरीर में उन हजारों घंटों के दृढ़ परिश्रम से अर्जित की गई काबिलियत जमा हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने उनकी तुलना में बेहतर प्रदर्शन किया जिन्होंने संगीत के सामाजिक क्षेत्र में बाद में कदम रखा और जिनके पास संगीत की संचित काबिलियत तुलनात्मक रूप से कम थी।

बोर्डियु कहते थे कि अलग-अलग क्षेत्रों के अनुरूप अलग-अलग तरह की पूंजी होती है। संगीतज्ञ, जिनकी हम बात कर रहे हैं, उनके पास एक तरह की सांस्कृतिक पूंजी थी जिसने उन्हें उनके खास क्षेत्र में उत्कृष्टता प्रदान की, ठीक उसी तरह, जिस तरह जिनके पास आर्थिक पूंजी थी वे बाजार को प्रभावित व नियंत्रित कर सकते थे जो कि उनका अपना खास क्षेत्र था।

बोर्डियु ने इस संदर्भ में एक बेहद रोचक अंतदृष्टि प्रदान की कि किस तरह अधिक पूंजी आपको किसी खास क्षेत्र को प्रभावित या नियंत्रित करने की इजाजत देती है। वे कहते थे कि जब लोग किसी क्षेत्र में सबसे पहले दाखिल हो जाते हैं, उदाहरण के लिए जिहोने पहले बांसुरी बजाना शुरू कर दिया तो उन्हें कई तरह के फायदे होते हैं। एक, वे दूसरों की तुलना में कहीं ज्यादा अनुभव या पूंजी जमा कर लेते हैं लेकिन एक बिलकुल अलग और कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण फायदा यह है कि वे ही परिभाषित करते हैं कि अच्छा संगीत क्या है। ये कुछ वैसा ही कि खेल के मैदान में जिस भी खिलाड़ी ने सबसे पहले अपनी जगह ले ली तो आगे का खेल कैसे चलेगा ये इसी से निर्धारित होगा। यदि एक टीम के खिलाड़ी मैदान में सभी महात्वपूर्ण मोर्चों पर कब्जा जमा लेते हैं तो इसके बाद विरोधी टीम के खिलाड़ियों के पास हमेशा कमजोर मोर्चों पर खड़े रहने के अलावा कोई विकल्प नहीं बचता। अब संगीत के उदाहरण पर वापस आते हैं। जब एक खास किस्म की ध्वनि 'संगीत' के रूप में स्थापित हो गई तो इसने हमारे दिमागों में 'अच्छे संगीत' की एक छवि निर्मित कर दी। और जब नए प्रवेशार्थियों ने किसी संगीत का सृजन किया तो उसे अपनी जगह बनाने के लिए इस स्थापित छवि के खिलाफ संघर्ष करना पड़ा। बोर्डियु जो इशारा कर रहे थे, वह यह था कि जिसे हम शास्त्रीय संगीत के रूप में स्वीकारते रहे व जिसकी एक परिचित और मोहक ध्वनि थी, जरूरी नहीं कि वह दरअसल संगीत के अन्य स्वरूपों से बेहतर ही हो। बात सिर्फ इतनी है कि हम पहले से अच्छे संगीत के बारे में एक मान्यता रखते थे और फिर इसी से आगे चलकर अच्छे संगीत को परिभाषित कर दिया गया। सांस्कृतिक पूंजी हमेशा ही कोई बेहतर चीज हो यह जरूरी नहीं होता। यह बस इतना है कि किसी चीज ने हमारे ध्यान पर कब्जा जमा लिया, जो हो सकता है अपने चरित्र में बिलकुल मनगढ़ंत हो। जिन लोगों को ये मौके पहले हासिल हो गए वही पूंजी की परिभाषा को गढ़ने लगे चाहे वे बाद में कदम रखने वाले लोगों से बेहतर हों या ना हों।

किसी भी समाज में पूंजी के वितरण की व्यवस्था सामाजिक असमानता की प्रणालियों को काफी हद तक प्रभावित करती रही है। मानवीय समुदायों में कुछ खास सामाजिक समूह पूंजी का संचय करते रहे और इसे अपने अनुगामियों को प्रेषित कर दिया गया। इससे हुआ ये कि नई पीढ़ी ने आते ही एक ऐसी दुनिया को देखा जहां पहले से ही पूंजी

के कुछ पहाड़ और कुछ खाइयां मौजूद थीं। कुछ लोग अनगिनत अवसरों के साथ पैदा हुए व कुछ का जन्म ऐसे परिवारों में हुआ जो कोल्हू के बैल की तरह जिंदगी की चक्की में पिस रहे थे। पूंजी न केवल व्यक्तिगत बल्कि सामाजिक भिन्नता का आधार बन गई। इसके बंटवारे ने ऐसी सामाजिक संरचनाओं को जन्म दिया जिनकी वजह से बहुत से लोगों की क्षमताओं को नकार दिया गया जबकि वे भी उतने ही प्रतिभाशाली और परिश्रमी थे।

एक उदाहरण जो मैं हमेशा अपने आस-पास विभिन्न कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में देखता हूं, वह है अंग्रेजी भाषा का। ये एक तरह की सांस्कृतिक पूंजी है जिसके होने से आपको समाज में कई फायदे हासिल होते हैं। जबकि इस पूंजी में ऐसी कोई अंदरुनी अच्छाई या गुण नहीं है जिससे कि इसे अपने आप में कोई खास दर्जा हासिल हो। अंग्रेजी भाषा की संरचना में ऐसा कुछ नहीं है कि यह अन्य भाषाओं जैसे हिन्दी, कन्नड़ या पंजाबी से अधिक खास हो। पर यह एक विशिष्ट भाषा बन गई, इसका सिर्फ इतना कारण है कि यह वह भाषा है जिसमें एक सदी पहले भारत के सबसे ताकतवर लोग बोलते और लिखते थे। जब स्कूल और कॉलेजों का विस्तार हुआ तो जो लोग काफी महत्वाकांक्षी थे वे भी इसी भाषा में बोलना चाहते थे। ऊंची हैसियत वाले लोगों की भाषा का दर्जा हासिल कर लेने के बाद अंग्रेजी सर्वाधिक मांग वाली भाषा बन गई और ऊपर से यह भी हो गया कि यह पूरी दुनिया में फैल गई तथा इससे आपको बातचीत का बहुत विस्तृत दायरा मिल गया। अंग्रेजी को पहले ही यह जो फायदा प्राप्त हो गया इसी से उसे एक सांस्कृतिक पूंजी का स्वरूप हासिल हुआ, अन्यथा इसमें स्वयं में कुछ भी अनूठा या खास नहीं था। सांस्कृतिक पूंजी को जिस तरह से देखा जाता है, उस स्वरूप में आ जाने के बाद यह अब दुनिया की अन्य सभी भाषाओं (और शिक्षा) को भी प्रभावित करने लगी है। इसके अधिक ताकतवर हो जाने से अन्य भाषाएं स्वतः ही कमजोर प्रस्थिति में धकेल दी गई हैं।

जिन्हें अंग्रेजी के रूप में एक सांस्कृतिक पूंजी हासिल हो गई है उन्हें कई ऐसे फायदे हासिल होते हैं जिनसे अन्य लोग वंचित रह जाते हैं। शुरू में एक छोटी ही संख्या थी जो अंग्रेजी बोलती थी। भारत में अब भी यह संख्या बहुत कम है। जो लोग अंग्रेजी बोलने वाले परिवारों में पले-बढ़े हैं या फिर जिनके पास इतना पैसा है कि वे अंग्रेजी सिखाने वाले स्कूलों में जा सकते हैं, उनके पास अन्य लोगों की तुलना में अधिक पूंजी होती है। सांस्कृतिक पूंजी के बंटवारे की व्यवस्था ऐसी सामाजिक असमानताओं को जन्म देती है जिसकी गूंज स्कूली जीवन से लेकर कॉलेज और फिर करीअर के पूरे सफर में सुनाई देती है।

बोर्डियु ने यह रेखांकित किया कि सांस्कृतिक पूंजी के लिए इसके अंदर कोई बहुत विशेष महत्वपूर्ण चीज होने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि जो इसे मूल्यवान बनाता है वह है इसका अपने क्षेत्र के अन्य सदस्यों से रिश्ता। यहां शक्ति का स्रोत यह प्रदर्शित कर सकने की काबिलियत में निहित होता है कि दूसरे कमतर हैं व यह अपने आप में ही श्रेष्ठ है। इससे कई सांस्कृतिक विशेषताओं, जिन्हें हम परिष्कृत या सुसंस्कृत मानते रहे हैं, के बारे में एक चौंकाने वाला दृष्टिकोण सामने आता है। हालांकि हर चीज जिसे हम अच्छी मानते हैं, केवल इसलिए अच्छी नहीं है कि इससे कुछ लोगों को खुद को दूसरों से श्रेष्ठ दिखाने का मौका मिलता है और उन्हें अपने क्षेत्र के अन्य लोगों को नियंत्रित करने की काबिलियत हासिल होती है। लेकिन कुछ सांस्कृतिक विशेषताएं जैसे स्कूल यूनिफॉर्म में कोट और टाई का होना, रोटी की बजाय पास्ता खाना, कुछ खास तरह की फिल्में देखना आदि आकर्षित करती हैं इसकी एक वजह यह है कि इनसे यह प्रदर्शित होता है कि इनको अपनाने वाले दूसरों से अलग व श्रेष्ठ हैं। अपनी बहुचर्चित किताब 'श्रेष्ठता : रुचि की धारणा की सामाजिक विवेचना' (डिस्टिंक्शनः अ सोशल क्रिटिक ऑफ जजमेंट ऑफ टेस्ट, 1988/1979) में बोर्डियु ने कई ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए जिनसे यह पता लगता है कि फ्रांस के लोग सांस्कृतिक रुचियों से संबंधित कई छोटे-छोटे कामों के जरिए अपनी एक विशिष्ट पहचान बनाने की कोशिश किया करते थे। एक खास रंग के मेजपोश का इस्तेमाल, कुछ खास तरह के खाद्य पदार्थों को खाना व अन्य को नहीं खाना, अपने ड्रॉइंग रूम

को खास तरह से सजाना आदि एक विशेष सामाजिक समूह की सदस्यता को प्रदर्शित करने का एक तरीका था जो कि अपने से नीचे के समूहों से श्रेष्ठ था। इस तरह के सांस्कृतिक कृत्यों से हो सकता है एक गहरा जुड़ाव हो और इनके साथ कुछ गाढ़े भावनात्मक अनुभव जुड़े हुए हों, लेकिन इस बात से किसी दूसरे रंग के मेजपोश का इस्तेमाल करना या कोई और तरह का खाना खाना कमतर नहीं हो जाता। जिसने इन्हें अलग किया वह है श्रेष्ठता या निम्नता स्थापित करने में इनका महत्व।

## शिक्षा व सामाजिक असमानता का पुनरुत्पादन

सांस्कृतिक पूंजी के विचार व उससे संबंधित सामाजिक क्षेत्र के प्रभुत्व, इन दो चीजों की वजह से स्कूलों को एक अलग दृष्टि से देखा जाने लगा। स्कूली पाठ्यचर्या व कक्षा के रोजमर्रा के जीवन की सामान्य समझ ये थी कि ये बच्चों को एक बेहतर ज्ञान और मूल्यों की ओर लेकर जाती हैं। इसके विपरीत बहुत से लोग ये सोचते रहे कि स्कूल दरअसल अन्य मूल्यों की तुलना में कुछ सामाजिक समूहों के ज्ञान को तरजीह देते हैं। भारत में लम्बे समय से ये पूछा जाता रहा है कि क्या अंग्रेजी वाकई अन्य भाषाओं से किसी तरह बेहतर है और क्या स्कूल जीवन्त व व्यावहारिक ज्ञान के बजाय विज्ञान की किताबी समझ का कुछ ज्यादा ही बखान नहीं करते रहे हैं। बोर्डियु द्वारा प्रस्तुत की गई अवधारणाएं इस सब को समझने में हमारी मदद करती हैं।

बोर्डियु ने उस जमाने में फ्रांस में प्रचलित इस धारणा का पुरजोर विरोध किया कि स्कूल सामाजिक समानता स्थापित करने का एक साधारण और सुगम जरिया है। यह भारत में भी एक बहुप्रचलित धारणा रही है इसलिए जो उन्होंने कहा वह ऐसा है जिसकी तरफ हमें भी ध्यान देने की जरूरत है। उन्होंने जोर दिया कि सामाजिक समानता स्थापित करने की बजाय शिक्षा दरअसल सामाजिक असमानता का पुनरुत्पादन करने का काम करती है। उन्होंने कई सर्वेक्षण और साक्षात्कार किए और यह दर्शाया कि भारी संख्या में छात्र जो ऐसे कोर्स करने जाते थे जिनसे वे आगे चलकर फ्रांसीसी समाज में ऊंचा स्थान प्राप्त कर सकें, स्वयं भी समाज के ऊंचे तबके से आते थे। उन्होंने कहा कि उनके प्रमाण यह दर्शाते हैं कि शिक्षा सामाजिक समानता को जन्म नहीं दे रही थी, बल्कि यह सिर्फ अवसर प्रदान करने का एक भ्रम पैदा कर रही थी ताकि लोग निम्न स्तर में बने रहने की स्थिति से सामंजस्य बिठा सकें। पर यह दावा कि शिक्षा केवल असमानता का सामाजिक पुनरुत्पादन करती है, भारत जैसे देश के लिए पूरी तरह सही नहीं है क्योंकि यहां मध्यम व उच्च स्तर पर अवसरों की वृद्धि ने कई लोगों को इनमें प्रवेश पाने की इजाजत दी है। पर यहां भी कई लोग इस बात से चिंतित हैं कि शिक्षा उतना सब नहीं कर रही है जितनी इससे उम्मीद थी। ऐसा क्यों है, यह समझने में बोर्डियु हमारी मदद करते हैं।

बोर्डियु कहते थे कि उच्च स्तर के सामाजिक समूहों की संस्कृति का लगातार बना हुआ प्रभुत्व एक शक्तिशाली युक्ति थी जो निचले स्तर के सामाजिक समूहों के प्रवेश पर रोक लगाती थी। सांस्कृतिक शक्ति को इस तरह परिभाषित किया गया था कि उन सामाजिक समूहों को विशेषाधिकार प्राप्त हो सकें जो कि पहले से ही ताकतवर थे। अपनी किताब 'द इनहेरिटर्स : फ्रेंच स्टूडेंट्स इन रिलेशन टू देयर कल्चर' (1979/1964) में बोर्डियु रेखांकित करते हैं कि स्कूल और कॉलेजों के उस वक्त के वातावरण में अभिजात्य फ्रांसीसी संस्कृति का बहुत बोलबाला था। स्कूल केवल गणित और व्याकरण के तकनीकी ज्ञान तक सीमित नहीं थे। कुछ ऐसे सामान्य तौर-तरीके थे, जिनमें संगीत, नाटक व साहित्य इसमें भूमिका निभाते थे कि आप खुद को ज्ञानी या जानकार महसूस करते हैं या नहीं। मुख्य संग्रहालयों में नहीं जाने का मतलब था कि बच्चे में कोई कमी है व उसे जाहिल समझा जाए। इससे बच्चे का आत्मविश्वास गिरता जाता था और शिक्षक भी उसे कमतर व पिछड़ा हुआ मानने लगते थे। माता-पिता का ऐसा होना जो बच्चों को नियमित तौर पर कला फिल्में या नाटक देखने ले जाते, तो इससे छात्रों की बातचीत में एक अन्दाज आ जाता जो आधुनिक प्रतीत होता। ऐसे समूहों में जहां विज्ञान और साहित्य पर वैचारिक और परिष्कृत किस्म की बातचीत होती वहां बच्चे भी

उसी तरह से बात करना सीख जाते। इससे छात्रों को स्कूल में भी इस तरह की चर्चाएं करना आसान हो जाता। 'शिक्षा, समाज व संस्कृति में पुनरुत्पादन' (Reproduction in education society and culture : 1990/1970) में बोर्डियु और उनके सह-लेखक जीन क्लॉड पासेरान ने तर्क दिया कि इसका परिणाम यह हुआ कि एक व्यापक असमानता का पुनरुत्पादन हुआ, जबकि खुलेपन और स्वतंत्रता के मुखौटे को बनाए रखने की कोशिश जारी रही।

## पूंजी के प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष स्वरूप

बोर्डियु मानते थे कि जिस तरह हम अपनी शिक्षा व्यवस्था को देखते हैं, वह इसी का एक हिस्सा है कि किस तरह समाज के शक्तिशाली समूह चाहते हैं कि हम दुनिया को देखें। केवल कड़ी मेहनत से सफलता प्राप्त करने का एक झूठा सपना हमें दिखाया गया जिससे कि उस अनुचित लाभ को छुपाया जा सके जो कि एक खास तरह की पूंजी से ऊंचे तबके के सामाजिक समूहों को प्राप्त होता है। आर्थिक पूंजी को पहचानना आसान था, इसके खिलाफ संघर्ष का एक लम्बा इतिहास था। जबकि शिक्षा में पूंजी के कुछ अलग स्वरूप थे, जिन्हें पहचानना मुश्किल था और बोर्डियु का मानना था कि उच्च वर्ग के लोगों को इससे अपने अनवरत प्रभुत्व पर पर्दा डाले रखने का एक सुविधाजनक रास्ता मिल गया। और उनके लिए यह कहना संभव हो गया कि सैन्य-शक्ति व आर्थिक ताकत के बलबूते निर्बाध नियंत्रण के पुराने तरीकों की जगह अब एक ऐसी व्यवस्था ने ले ली है जहां आपकी योग्यता बोलती है और ऊंचे पदों पर अपनी काबिलियत से पहुंचा जाता है, ना कि किसी के परिवार की आर्थिक पूंजी के जरिए। दरअसल अलग-अलग किस्म की पूंजी के मध्य परस्पर रूपांतरण हो रहा था और आर्थिक पूंजी ने रूप बदलकर स्वयं को सामाजिक व सांस्कृतिक पूंजी के रूप में पेश किया।

पैसा, जमीन, उपकरण आदि सभी को बोर्डियु ने 'ओब्जेक्टिफाइड' या 'अवैयक्तिक' पूंजी की संज्ञा दी। वे ऐसी चीजें थीं जो व्यक्ति के बाहर मौजूद हैं। इन्हें आसानी से देखा जा सकता था व गणना की जा सकती थी। इन्हें शक्तिशाली सामाजिक समूहों द्वारा अगली पीढ़ी को आसानी से हस्तांतरित किया जा सकता था ताकि सत्ता का पुनरुत्पादन किया जा सके। धनी लोग ऊंची स्कूल की फीस भर सकते थे, लैपटॉप दे सकते थे, किताबें खरीद सकते थे व ऑनलाइन पुस्तकालयों की सदस्यता हासिल कर सकते थे। शिक्षा व्यवस्था ने इन अवैयक्तिक पूंजी के स्वरूपों को छात्रों के शरीरों में विभिन्न ज्ञान व काबिलियतों के रूप में तब्दील कर दिया। यह अंगीभूत (एम्बाडीड) पूंजी उतनी प्रत्यक्ष नहीं थी व इसे एक व्यक्ति से दूसरे को देना उतना आसान भी नहीं था। इसे हासिल करने हेतु छात्रों की ओर से कुछ श्रम करने की जरूरत थी। दूसरी तरफ अंगीभूत पूंजी से ऐसा भी आभास हुआ कि इसका परिवार की आर्थिक पूंजी से कोई संबंध नहीं है। इस तथ्य को कि विरासत में प्राप्त बड़ी आर्थिक पूंजी का इस्तेमाल किसी व्यक्ति की अपनी काबिलियतों के निर्माण में किया गया है, शिक्षा व्यवस्था की व्यक्तिगत कर्म व व्यक्तिगत उपलब्धी की दलील से ढंक दिया गया। दरअसल व्यक्ति की अंगीभूत पूंजी के पीछे विरासत में प्राप्त कई तरह की पूंजी का हाथ था। ओबजेक्टिफाइड या अवैयक्तिक पूंजी- परिवार का पैसा व संसाधन- के अलावा इसकी अपनी सांस्कृतिक पूंजी जिसमें खास तरह से बोलना व चीजों को देखना सिखाया गया। और फिर सामाजिक पूंजी थी यानी सामाजिक नेटवर्क जिसका कि संपन्न तबके से आने वाला व्यक्ति इस्तेमाल कर सकता था। एक बच्चा जिसके संबंधी व दोस्त कॉलेज में जाते थे, बहुत जल्दी सीखता था क्योंकि उससे भी वैसा ही करने की उम्मीद की जाती थी। अनुकरण करने के लिए उसके सामने कई आकर्षक रोल मॉडल होते। ऐसे लोग होते जो सलाह दे सकते हैं कि कौनसी किताबें पढ़नी हैं, परीक्षा से कैसे निबटना है और कहां जाकर पढ़ाई करनी है। इस तरह की सामाजिक पूंजी के अभाव में अक्सर बच्चा भटक सकता था।

एक अधिक लोकतांत्रिक समाज के अस्तित्व में आने के बाद ऐसी व्यवस्था ने आकार लिया जहां शक्ति का स्रोत किसी की धन-संपदा नहीं, बल्कि उसकी योग्यता हो गई। बोर्डियु का विश्वास था कि इस बदलाव के पीछे विभिन्न किस्म की पूंजी व उनके पारस्परिक रूपांतरण की एक अंधकारमय कहानी छिपी हुई है।

## हैबिटस : संरचनाएं हमारी आवाज कैसे बनती हैं।

एक खास सामाजिक समूह के अनुभव बच्चों की मनोवृत्तियों व उनके काम के तरीकों को खास रंग में ढालने लगते हैं। बोर्डियु ने इसे एक विशिष्ट किस्म के 'हैबिटस' का निर्माण होना बताया, यानी एक गहरी मनोवृत्ति या रुझान जिसे हमने अपनाना शुरू कर दिया है। उदाहरण के लिए, ऐसे बच्चे जो बहुत सी असुरक्षा व तंगी के अनुभवों से गुजरे हैं, वे जो भी कुछ सबसे आसानी से उपलब्ध होगा उसे स्वीकार कर लेंगे, कहीं ऐसा ना हो कि यह तुरंत गायब हो जाए। इसके विपरीत जो बच्चे ज्यादा सुरक्षित हैं, वे कुछ अधिक जटिल विकल्पों की तरफ जाएंगे और थोड़ा इंतजार करना चाहेंगे व प्रतिफल की अपेक्षाओं को थोड़ा थाम लेंगे। फिल्म 'लगे रहो मुन्नाभाई' का एक लोकप्रिय दृश्य है जहां राजकुमार हीरानी ठीक यही दिखाते हैं। फिल्म के नायक मुन्नाभाई को गांधी के बारे में बहुत कुछ जानना है ताकि वह उन पर एक व्याख्यान दे सके और नायिका के सामने उसकी नाक ना कटे। वह हिम्मत जुटाता है और एक घिनौने से पुस्तकालय में घुस जाता है। कैमरा गांधी से जुड़ी हुई कई छोटी-बड़ी किताबों पर घूमता है, पर मुन्नाभाई क्या उठाता है? वहां मौजूद एक सबसे पतली पोथी। शिक्षक अक्सर सामाजिक रूप से वंचित समूहों से आने वाले कई छात्रों में ठीक इसी तरह का व्यवहार देख सकते हैं। वे कोई जोखिम नहीं उठाना चाहते और अपने प्रयासों के बदले तुरंत प्रतिफल चाहते हैं। एक भारी-भरकम किताब पढ़ने से उनके डर व आशंकाएं बढ़ जाती हैं। उन्हें लगता है कि जटिल बौद्धिक लक्ष्यों को साधने का मतलब है असफलता को सुनिश्चित करना। इसकी बजाय एक सुविधासंपन्न सामाजिक परिवेश से आने वाले छात्र अधिकतर मामलों में ऐसे सवालों पर वक्त लगाना पसंद करते हैं जिनके कोई तत्काल जवाब मौजूद नहीं होते। जो व्यक्ति अधिक सुरक्षित है, वही किसी जटिल किताब से घंटों जूझना चाहेगा। नतीजा यह होता है कि जो बौद्धिक तौर पर कम महत्वाकांक्षी हैं, वे आवश्यक तौर पर उनकी तुलना में पिछड़ जाते हैं जो जटिल विचारों से जूझना ज्यादा पसंद करते हैं। बोर्डियु कहते थे कि इस तरह से सामाजिक असमानताओं ने हमारे जीवन में कदम रखा और हमारी सबसे गहरे विचारों को प्रभावित करना शुरू किया। इसने हमारे अंदर 'हैबिटस' का निर्माण किया जैसे एक गुप्त कम्प्यूटर प्रोग्राम या कोड। हमें पता ही नहीं चला और ये अचेतन तौर पर हमें ऐसी दिशा में खींचते चले गए जिससे सामाजिक असमानता का पुनरुत्पादन संभव हुआ। बोर्डियु के अनुसार इसी तरह सामाजिक संरचनाएं व्यक्तियों से जुड़ गईं। तो हो सकता है कि कोई प्रत्यक्ष नियंत्रण ना दिखाई दे, लेकिन विभिन्न किस्म की पूंजियों के असमान वितरण से निर्मित 'हैबिटस' का ही नतीजा था कि सामाजिक असमानताओं का पुनरुत्पादन संभव हुआ।

## बोर्डियु-एक पुनरावलोकन

पियेर बोर्डियु ने अपने काम में विभिन्न बौद्धिक स्रोतों से प्राप्त कड़ियों को एक साथ जोड़ दिया। यह मूल रूप में मार्क्सवादी विचार था जिसके आधार पर उन्होंने शिक्षा के जरिए असमानताओं के पुनरुत्पादन की बात कही। और हमें वेबर की प्रतिध्वनि सुनाई देती है, जब वे देखते हैं कि किस तरह से सामाजिक समूह अपने इर्द-गिर्द कुछ सांस्कृतिक चारदीवारी निर्मित कर लेते हैं व शिक्षा की सांस्कृतिक विषयवस्तु को प्रभावित करके एक-दूसरे से श्रेष्ठ दिखने की कोशिश करते हैं। वास्तव में वे इस बात में भरोसा जताते नजर आते हैं कि सामाजिक असमानता को समझने में हैसियत समूह का विचार विशेष महत्व रखता है। सांस्कृतिक समूहों का निर्माण चाहे किसी भी वजह से हो- आर्थिक, सामाजिक, या राजनैतिक- लेकिन यह सांस्कृतिक समूहों या हैसियत समूहों का ही परिणाम था कि असमानताएं उभरीं और रोजमर्रा के संघर्षों का हिस्सा बन गईं। बोर्डियु के काम ने शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर काम करने वाले बहुत लोगों को प्रेरित किया। नारीवादी विद्वानों के लेखन में देखा जा सकता है कि किस तरह पुरुषों की सांस्कृतिक पूंजी स्कूली संस्कृति पर हावी रहती है जहां लड़कियों को आत्म-रक्षात्मक स्थिति में रहना होता है। दलित विद्वान भी तर्क देते रहे हैं कि स्कूल का वातावरण ऐसा होता है कि निम्न जातियों से आने वाले बच्चे अलग-थलग महसूस करने लगते हैं। स्कूली व्यवस्था में प्रतीकात्मक हिंसा रही है ताकि अवसरों का भ्रम पैदा किया जा सके और लोगों को बहकाया जा सके कि वे शिक्षा का लाभ पाने के हकदार या योग्य नहीं हैं। मानो इसके लिए कोई और नहीं बल्कि वे स्वयं जिम्मेदार हैं।

बोर्डियु के काम की अपनी सीमाएं भी रही हैं। यह तर्क कि शिक्षा का काम सिर्फ सामाजिक असमानताओं का पुनरुत्पादन करना है, शिक्षा द्वारा प्रदत्त अवसरों की सरलीकृत व्याख्या के खिलाफ एक चेतावनी देता है। लेकिन इसे अक्षरशः नहीं देखा जाना चाहिए क्योंकि ऐसे और कई सामाजिक और व्यक्तिगत बदलाव भी हैं जिनका कि शिक्षा व्यवस्था एक हिस्सा है। हमें यह भी याद रखना चाहिए कि बोर्डियु व्यक्तिगत व सामूहिक स्वायत्तता को बहुत जगह नहीं देते और उनके लेखन में हम पूंजी के हाथों की कठपुतली मात्र दिखाई देते हैं। दरअसल जिंदगी में रोज कई संघर्ष होते हैं और लोग अपने व्यवहार, रवैये और मनोवृत्तियों को स्वयं रूपांतरित कर सकते हैं और वे करते हैं। हमें बोर्डियु को एहतियात से पढ़ना चाहिए और उनके विचारों को भारतीय शिक्षा की अपनी समझ के साथ सचेत ढंग से समायोजित करना चाहिए। ऐसा करने पर ही हम पाएंगे कि वे भारतीय शिक्षा की हमारी समझ व इसके साथ तालमेल स्थापित करने के हमारे तरीकों में काफी प्रभावशाली ढंग से योगदान दे सकते हैं। ◆

**लेखक परिचय :** जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से एमफिल एवं पीएचडी करने के बाद एकलव्य, हौशंगाबाद के साथ लगभग 3 वर्ष तक कार्य किया। इसके उपरान्त आईआईटी, कानपुर में समाजशास्त्र का अध्यापन किया। वर्तमान में अजीम प्रेमजी यूनीवर्सिटी, बैंगलोर में समाजशास्त्र के प्रोफेसर हैं।

**संपर्क :** amman.madan@apu.edu.in

**संदर्भ :**

Bourdieu, Pierre, and Jean-Claude Passeron. (1964) 1979. The Inheritors: French Students and Their Relation to Culture. Translated by Richard Nice. Chicago and London: Chicago University Press.

Bourdieu, Pierre. (1979) 1984. Distinction: A Social Critique of the Judgement of Taste. Cambridge, MA: Harvard University Press.

Bourdieu, Pierre, and Jean-Claude Passeron. (1970) 1990. Reproduction in Education, Society and Culture. 2nd ed. London: Sage.

**अतिरिक्त पठन सामग्री :**

Bourdieu, Pierre. (1971) 2010. 'पूंजी के स्वरूप' : Shiksha Vimarsh 12 (2): 136-46.

Dalal, Jyoti. 2016. 'Pierre Bourdieu: The Sociologist of Education'. Contemporary Education Dialogue 13 (2): 231-50.

# क्या शिक्षा शांति में सहायक हो सकती है?

## भाग-III

कृष्ण कुमार

अनुवाद : लतिका गुप्ता

*शांति और शिक्षा के पर्चे के अभी तक प्रकाशित अंश में हम इस मोड़ पर आ चुके हैं कि शिक्षा सांस्कृतिक मनमुटाव को बढ़ावा देती है जिसके लिए स्कूल और घर के संबंध को समझने की जरूरत है। अब प्रस्तुत है इससे आगे-*

### तीन मॉडल

शांति का परिप्रेक्ष्य विकसित करने के नज़रिए से देखें तो अतीत ज्ञान का सबसे ज्यादा चुनौतीपूर्ण क्षेत्र होता है। इस मामले में स्कूली शिक्षा की भूमिका काफी नाजुक हो जाती है। खास तौर पर घर पर होने वाले बच्चों के समाजीकरण के हवाले से देखें तो इस भूमिका में दो विकल्पों के बीच चुनाव करना होता है। शिक्षा या तो घर पर होने वाले समाजीकरण का पूरक बने या वैकल्पिक रूप में घर से मतभेद रखे और बच्चों को अतीत के प्रति नए रवैये और दृष्टिकोण सिखाए। शांति के लिए शिक्षा के संदर्भ में घर-स्कूल के रिश्तों को समझने के लिए मैं उस क्रमविन्यास का इस्तेमाल कर रहा हूं जो मैंने कुमार (2007) में प्रस्तुत की थी। जैसा कि चित्र 1 में दिखाया गया है, इसमें तीन मॉडल है। मॉडल 1 उन शिक्षा व्यवस्थाओं को दर्शाता है जिनमें घर पर होने वाले समाजीकरण और स्कूल के औपचारिक अधिगम में एक चिह्नित निरंतरता होती है। माडल 2 उन विपरीत मामलों को दर्शाता है जिनमें घर और स्कूल एक-दूसरे से जुदा होते हैं और एक दूसरे के प्रति उदासीन होते हैं। माडल 3 इस दोनों के बीच अंतःक्रिया और संधिक्रम की संभावना को प्रस्तुत करता है।

**चित्र 1 :** घर-स्कूल के रिश्ते के तीन माडल

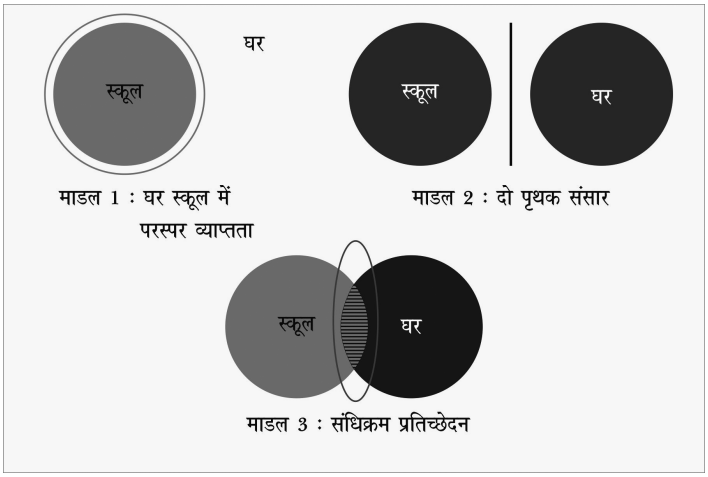


भारत और पाकिस्तान में घर पर होने वाले समाजीकरण से मिली सीख और स्कूली शिक्षा के बीच जटिल रिश्ते को समझने में यह माडल हमारी मदद करते हैं। दोनों ही देशों को विरासत में औपनिवेषिक नीतियां मिलीं जिनके कारण स्कूल घर की संस्कृति से बेगाना बना रहता है। आजादी के समय से ही स्कूल में धार्मिक शिक्षा को लेकर दोनों देशों ने अलग रास्ते अपनाए हैं। पाकिस्तान में वह स्कूल की दिनचर्या का जरूरी हिस्सा है जबकि भारत में अल्पसंख्यक स्कूलों को छोड़ दें तो यह वर्जित है (युनेस्को एमजीआईईपी, 2017)।

इसलिए, पाकिस्तान में शैक्षिक नीति माडल 1 का पालन करती है और भारत में वह माडल 2 का पालन करती है। हाल के दशकों में पाकिस्तानी नीति में इस्लामीकरण के उद्यम ने धर्म आधारित राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य को बढ़ावा देने के लिए स्कूली शिक्षा के इस्तेमाल को और ज्यादा प्रखर किया है।

भारत में नीतिगत परिदृश्य काफी जटिल और अस्थिर रहता है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-2005 (एनसीईआरटी, 2006) माडल 3 को लागू करने के प्रयास की ओर इशारा करता है। यह लक्ष्य राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-2005 पर आधारित एनसीईआरटी द्वारा तैयार की गई पाठ्यपुस्तकों में दिखलाई पड़ता है। केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के मानकों के तहत चलने वाले स्कूल एनसीईआरटी की पाठ्यपुस्तकें इस्तेमाल करने के लिए बाध्य होते हैं। ऐसे स्कूल भारत के कुल स्कूलों में केवल 10 प्रतिशत हैं। अन्य स्कूलों में राज्य के स्तर के पाठ्यक्रम एवं पाठ्यपुस्तकें लागू की जाती हैं। हाल के वर्षों में कई राज्यों में राजनीतिक विचारधारा के रूप में धर्मिक राष्ट्रवाद ने पकड़ बनाई है। इसने कई राज्यों में पाठ्यपुस्तकों एवं स्कूल के वातावरण पर प्रभाव डाला है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-2005 के तहत धार्मिक परिप्रेक्ष्य एवं शांति के मूल्यों को बढ़ावा देने के प्रयास राज्यों में कोई खास सफल नहीं हुए हैं। इस प्रयास के दो प्रस्ताव थे : एक पाठ्यचर्या एवं पाठ्यपुस्तकों को फिर से विकसित करना ताकि इतिहास तथा संस्कृति पर आलोचनात्मक चिंतन संभव हो सके; और दूसरा शांति के मूल्यों को बढ़ावा देना जैसे कि सहिष्णुता, अहिंसा एवं मतभेदों का बातचीत के द्वारा समाधान करना। हालांकि राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा के क्रियान्वयन को लेकर कोई बड़ी समीक्षा नहीं हुई है लेकिन भारत की विस्तृत एवं जटिल व्यवस्था पर इसका सामान्य प्रभाव निर्विवाद है। यह कितने समय तक कायम रहेगा यह देखा जाना बाकी है।

## नागरिक एवं राष्ट्र

बचपन में केवल इतिहास के विषय में ही सामूहिक मनमुटाव नहीं पनपते। नागरिक जिम्मेदारियों एवं राजनीतिक सीमाओं के प्रारभिक वर्षों में ही परिचय दे देने से इतिहास की भूमिका को पूरकता मिलती है। नागरिक शास्त्र एवं भूगोल में अधिकतर स्कूली पाठ्यचर्या बच्चों के संज्ञानात्मक विकास से असंगत होती है। नक्शों में शामिल गणितीय एवं ज्यामितीय अवधारणाओं को सीखने से बहुत पहले बच्चों का नक्शों से वास्ता पड़ जाता है जिनमें राष्ट्रों की सीमाएं दिखाई गई होती हैं। ज्ञान के एक और क्षेत्र में बच्चों के संज्ञानात्मक विकास से असंगत सीमाओं वाले राष्ट्र से जुड़ी अस्मिता स्कूल के शिक्षण के समानांतर चलती है। वह क्षेत्र है राज्य एवं सरकार के प्रकार्यों का।

कई देशों में यह ज्ञान व्यक्त रूप से राष्ट्र-राज्य से वफादारी की मांग करता है और उस वफादारी के सबूत के रूप में अपनी जान देने की सम्मति की मांग करता है। भारत में नागरिक शास्त्र की पाठ्यचर्या के इस पहलू में आमूलचूल परिवर्तन आए हैं जिनके तहत इस विषय को 'राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन' का नया नाम दिया गया है। यह नया विषय सामाजिक दुनिया कैसे बनती है और कैसे पुराने सामाजिक विभाजनों को राजनीतिक मिजाज वाले मानवतावादी दावों से चुनौती दी जा सकती है इस बारे में बच्चों की जिज्ञासा को जगह देता है (गुप्ता, 2015)। हांलाकि, ज्ञान की यह नई रचना भारत के हरेक क्षेत्र में फैल नहीं पाई है, फिर भी यह नागरिक शास्त्र के पुराने शिक्षण से अच्छा खासा विचलन है जो पाकिस्तान के सामाजिक अध्ययन की पाठ्यचर्या पर आज भी हावी है। जी हां, वहां सामाजिक अध्ययन, 'पाकिस्तान अध्ययन' नामक विषय के अंतर्गत पढ़ा जाता है जिसका लक्ष्य सीधे-सीधे सैन्यवादी, मर्दाने राज्य के प्रति अदम्य प्रतिबद्धता जगाना है (सैगोल, 2015)।

दुनिया के हरेक हिस्से में राष्ट्रवाद एवं बच्चों की शिक्षा की मजबूती परस्पर जोड़ी जाती है। मत प्रचार के लिए बच्चों की शिक्षा के इस्तेमाल होने का अपना एक इतिहास है जिसका अस्मिता-चालित राजनीतिक विचारधाराओं के उत्थान से गहरा नाता है। कई देशों में प्रबल मौजूदा राजनीतिक एवं आर्थिक माहौल में इन राजनीतिक विचारधाराओं ने उपजाऊ जमीन पा ली है (इकोनॉमिस्ट, 2017)। हाल में हुए 22 देशों की पाठ्यचर्या नीतियों के अध्ययन में निकल कर आया कि एशिया में शिक्षा के लक्ष्य के रूप में राष्ट्रीय अस्मिता को बढ़ावा दिया जा रहा है (युनैस्को, 2017)।

## सैन्यीकरण या रेजमेंटेशन

जब शिक्षा के लक्ष्य के रूप में गहरी राष्ट्रवादी भावना को शुरुआती वर्षों से बढ़ावा दिया जाए तो वह स्कूलों में सैन्यीकरण या रेजमेंटेशन को तीक्ष्ण कर देती है। दुनिया के हर हिस्से में सैन्यीकरण या रेजमेंटेशन सार्वजनिक शिक्षा से गहरे स्तर पर जुड़ा रहा है। कई लोग इसको शिक्षा का अभिन्न अंग मानते हैं व इस हद तक स्वीकार करते हैं कि यह पढ़ाने के लिए सामर्थ्य बढ़ाने वाली स्थितियां पैदा करता है। सही में, यह मत इतना आम और प्रचलित है कि शिक्षा को ज्यादा बाल-केन्द्रित बनाने और सैन्यीकरण या रेजमेंटेशन को कम करने की दलील निरर्थक और बेकार कह कर खारिज कर दी जाती है। अधिगम की पुरानी अवधारणाएं मांग करती थीं कि बच्चे की दिशाहीन ऊर्जा को नियंत्रण में लाया जाए और ऐसा करने के कठोरतम तरीकों को भी विधि सम्मत माना जाता था। किसी भी तरह का शारीरिक दंड देने के शिक्षक के अधिकार को उसकी सत्ता का महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। अनुपालन की संस्कृति बनाने के लिए स्कूल एवं कक्षा में कई तरह की पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है। ये स्कूली दिनचर्या के इस हद तक अभिन्न अंग हो चुके हैं कि इनको अकसर अच्छी शिक्षा का सूचक माना जाता है। बच्चों की वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति को दबाने में स्कूल की गुणकारिता की तारीफ में 'अच्छा अनुशासन' जैसे जुमलों का इस्तेमाल किया जाता है।

अनुशासन शब्द का इस्तेमाल अक्सर एक तरह की नैतिक शिक्षा के लिए किया जाता है। अनुशासन एवं नैतिक शिक्षा पर विचारों का विश्लेषण करते हुए, क्लार्क (1998) ने समझा कि पारंपरिक विचार बेतुके और असाध्य हैं फिर भी वे हावी रहते हैं। स्कूली वर्दी, बाल तथा जूतों का स्टाइल, नारे लगाना, सैन्यवादी अभ्यास एवं परेड पर जोर देना एक सही से चल रहे स्कूल के लक्षण माने जाते हैं। वे एक साथ मिलकर स्कूली अधिकारियों को दक्षता एवं प्रबंधन का ठोस सबूत देने में सक्षम बनाते हैं। वे उस 'हैबिटस' के कारकों की तरह काम करते हैं जो बच्चों के ऊपर स्वायत्त सामर्थ्य हासिल कर लेते हैं। बोर्दियो (1991) के 'हैबिटस' के सिद्धांत के आधार पर विभिन्न शैक्षिक व्यवस्थाओं में शोधकर्ताओं ने उसकी प्रतीकात्मक शक्ति को हिंसा का एक रूप कहा है। स्कूली संस्कृति के एक अध्ययन में, यादव (2014) ने सुबह की प्रार्थना सभा में सैन्यीकरण या रेजमेंटेशन के कई पहलुओं को पहचाना। उससे स्कूलों को ऐसा वातावरण बनाने में मदद मिलती है जिससे बच्चों की व्यक्तिगत विशेषताएं आर्केस्ट्रा जैसे समुच्चय में डूब जाती हैं। कई देशों में एक स्कूली वर्दी में व्यक्तिगत अस्मिताओं का सम्मिश्रण आम बात है। होरवत एवं ऐन्तोनियो (1999) ने विश्लेषण किया है कि नियंत्रण के इन तरीकों का अफ्रीकी-अमेरिकी लड़कियों पर क्या असर पड़ता है।

मूल्यांकन स्कूल का एक और पहलू है जिससे सैन्यीकरण या रेजमेंटेशन को गहराने और बढ़ते जाने की उपजाऊ जमीन हासिल होती जाती है। कक्षायी और सालाना परीक्षाएं समकालीन स्कूली संस्कृति का अभिन्न अंग होती हैं। उनका उपयोग न केवल बच्चों को मेहनत करने हेतु प्रेरित करने के लिए किया जाता है बल्कि उनमें प्रतियोगिता की भावना जगाने के लिए भी। इस दूसरे पहलू ने प्रधानता पा ली है क्योंकि इसमें वृहत् समाज में व्याप्त बाजार-केन्द्रित नीतियों की गूंज सुनाई आती है। बाल-केन्द्रित शिक्षण के प्रयास उस पकड़ को ढीली करने में अक्षम रहे हैं जो परीक्षा ने बच्चों, अविभावकों और शिक्षकों के दिमाग पर बना रखी है। पाठ्यचर्या संबंधी प्रगतिवादी सुधारों के प्रयासों के विरोध की अभिव्यक्ति इस हवाले से होती है कि परीक्षा से फेल होने का भय बना रहता है और अनुशासन को प्रोत्साहन मिलता है। परीक्षा में सफलता को लेकर भावनात्मक मूल्यों का जो निवेश किया जाता है उसे शिक्षकों एवं अविभावकों की गहरी स्वीकृति हासिल होती है। स्कूल के शुरुआती स्तरों से ही लागू होकर परीक्षा उस आतंक को बढ़ावा देती है जिसे स्कूल पैदा करता है। 2009 में भारतीय संसद से पारित शिक्षा के अधिकार कानून ने उस परीक्षा व्यवस्था को सतत् एवं समग्र मूल्यांकन में बदल दिया था जो बच्चों को सालाना रूप से पास एवं फेल की श्रेणी में बांट देती थी। यह बदलाव अब पल्टा जा चुका है।

स्कूल में सीखने पर परीक्षा में फेल होने जैसे नतीजों के भय लादे जाने को अनुमति दी जा रही है। कादयान (2008) ने भय के उस आम शासन की व्याख्या की है जिसे बच्चे का दिमाग आत्मसात कर लेता है। उनका कथन है :

*''स्कूल के कई हिस्सों के बारे में मैंने बस सुना था लेकिन उन्हें देखा नहीं था। ऐसे कुछ हिस्से भी होंगे जिनके बारे में मैंने सुना भी नहीं था। सिर्फ स्कूल की इमारत को जानने के लिए मैं अपना जीवन कैसे दांव पर लगा देती जब मेरा हरेक प्रयास मुझे वापिस कोटरो में ले जाने की संभावना रखता था। मेरी अपनी सिर्फ एक सीट थी। मुझे हरेक उस कारण से नफरत थी जिसके कारण मुझे उससे उठना पड़ता था। क्या पता कब कौन मेरी सीट यह कह कर छीन लेता कि मैं एक बुरी विद्यार्थी थी?''*

कादयान की आत्मकथा उस असर को उजागर करती है जो, पूर्ण शारीरिक नियंत्रण एवं विलगाव के जरिए स्कूल के माहौल के कारण बच्चे के मानस पर पड़ता है। स्कूल में बहुत बच्चों की बौद्धिक क्षमताएं कम उम्र में ही कुंद हो जाती हैं। ऐसा कोई जानबूझ कर नहीं करता हालांकि कुछ परिस्थितियों में ऐसा भी किया जाता है। स्कूल की दिनचर्या में बच्चे के शरीर का सैन्यीकरण या रेजमेंटेशन गहरे शामिल होता है। इसमें बैठना, खड़े होना एवं चलना निहित है लेकिन सबसे महत्वपूर्ण रूप से इसमें शामिल है बच्चे कैसे बात करें, पूछे गए प्रश्न के जवाब कैसे दें एवं प्रश्न कैसे पूछें और इन सब की आज्ञा मिलती भी है कि नहीं। इस चर्चा में फूको की आतंक की रचना की गूंज सुनाई देने लगी है जिसको उन शिक्षण शास्त्रीय पद्धतियों के जिक्र से पूरा करने की जरूरत है जिनसे बच्चों का समय सत्ता की असंगत और पुनरावर्ती गतिविधियों से बर्बाद किया जाता है। लाडूसा (2015) ने ऐसी गतिविधियों की व्याख्या वाराणसी के स्कूलों में किए अपने भाषा के अध्ययन में की है। उनके द्वारा वर्णित कुछ गतिविधियां 'टाइम पास' रणनीति का हिस्सा होती हैं जिनसे बच्चे स्कूल को ऐसी जगह के रूप में आत्मसात कर लेते हैं जहां निरर्थकता एवं तुच्छता ही सफलता तथा बने रहने की कुंजी है।

## प्रत्युत्तर तर्क

1960 और 1970 के दशकों में अमेरीका, इंग्लैंड, और दूसरे देशों में जो आलोचनात्मक व्याख्या हुई उसने उस गहराई को उजागर किया जिस पर जा कर बच्चों की बौद्धिक क्षमताएं कुंद हो जाती हैं। होल्ट की किताब *'बच्चे असफल कैसे होते हैं'* उस समय की उत्कृष्ट कृति है। कोजोल (1968) की *'डैथ एट एन अर्ली एज'* हमें याद दिलाती है कि बौद्धिक क्षमताए कुंद होने की प्रक्रिया में राजनीतिक प्रकार्य शामिल होते है। गरीबों के हाशियाकरण से इन प्रकार्यों से सामाजिक एवं आर्थिक वर्चस्व की संरचना बनी रहती है। बच्चों की बौद्धिक क्षमताओं को कुंद करने में सैन्यीकरण या रेजमेंटेशन एक उपकरण के रूप में काम करता है यह 1960 के दशक से पहले दर्शनशास्त्रीय रुचि का विषय होता था। बाल-केन्द्रित तरीकों की दलील को युद्ध ग्रस्त वर्षों के प्रगतिशील लेखकों, विचारकों और शिक्षणशास्त्रियों से राजनीतिक बल मिला। उनमें से मौंटेसरी, बर्टंड रसल और श्री अरविंद ने अर्थपूर्ण ढंग से लिखा कि स्कूल का सामूहिक नियंत्रण बच्चों को बड़े होने पर राजनीतिक प्रोपागैंडा की तरफ झुकाता है खासकर सरकारी राजनीतिक प्रोपागैंडा। उन्होंने राज्य द्वारा प्रतिबिंबित सामूहिक ईगो के खिलाफ आगाह किया क्योंकि वह भविष्य को आकार दे सकने वाली सृजनात्मक क्षमताओं का दमन करता है। टैगोर ने भी राजनीतिक राष्ट्रवाद की आलोचना की कि वह मानवीयता के मूल्यों और आदर्शों का हनन करता है। अपनी कहानी *'तोते की शिक्षा'* में उन्होंने उस त्रासदी को पकड़ा है जिसमें बच्चे की प्राकृतिक प्रकृति राज्य की कठोर सत्ता से भिड़ती है और कुचली जाती है। विचारकों की इस श्रृंखला में हाल में कृष्णमूर्ति, पौले फ्रेरे और इवान इलिच का नाम जुड़ा है। वे सीखने के सार्वजनिक स्थलों में आमूलचूल बदलाव की संभावना को लेकर आशावादी थे। उन्होंने प्रचलित शिक्षा की कटु आलोचना की और हमें याद दिलाया कि राज्य समेत समाज की अन्य संस्थाओं में बदलाव के बिना शैक्षणिक सुधार नहीं हो सकते।

शिक्षा की आलोचना और उसके सुधार के तरीकों की खोज में अगर हम दर्शनशास्त्रीय मार्गदर्शन ढूंढ़ें तो हम गांधी के राजनीतिक और शैक्षिक प्रयोगों में एक सृजनात्मक उत्तर पाएंगे। एक शांतिवादी विचारक के रूप में और उनकी अहिंसात्मक संघर्ष की विरासत उनको विचारों के इतिहास में एक महान व्यक्ति बनाती है (परेल, 2016)। वे हिंसा एवं आर्थिक शोषण के चक्र को तोड़ने के लिए जीवन भर शैक्षणिक तरीके ढूंढने में लगे रहे। शिक्षा की पुनर्रचना में हतकरघा के इस्तेमाल के उनके प्रस्ताव को केवल आर्थिक मायनों में देखा जाता है मतलब आत्मनिर्भरता और हाथ

के काम के प्रति बदलते दृष्टिकोण के मायने की तरह। गांधी की नई तालीम की पारंपरिक समझ की दो हाल की विवेचनाओं में आलोचना की गई है (श्रीनिवासन, 2017 एवं गौड़, 2016)। श्रीनिवासन का कहना है कि गांधी के ज्ञान पर विचार नैतिक शिक्षा के सिद्धांत के संदर्भ में परिभाषित किए जाने चाहिए जो इंसान के सामाजिक अस्तित्व की समस्याओं को वृहत मायनों में समझते हैं। गौड़ ने उनकी शिक्षा शास्त्रीय योजना को स्वराज के संदर्भ में देखा है जिसमें वे आजादी को परिभाषित करने का एक तरीका सुझाते हैं। गौड़ ने स्वराज की अवधारणा की मदद से गांधी द्वारा शुरू किए स्कूल आनंद निकेतन का अध्ययन किया है। पर्यावरण शिक्षा और शिल्प के काम से संबंधित बच्चों की गतिविधियों और जीवन से ऐसे पर्याप्त प्रमाण मिले हैं कि गांधी के शिक्षण शास्त्रीय सिद्धांत से स्वयं संचालित अधिगम को प्रोत्साहन मिलता हैं।

देवी प्रसाद के काम में भी समान प्रमाण और दिशा मिलती है। वे कला  के शिक्षक थे और दुनिया में प्रसिद्ध शांति विचारक। टैगोर और गांधी द्वारा शुरू स्कूलों में कला शिक्षण करके उन्होंने अपना तर्क पूरा निर्मित किया जिसमें सौन्दर्यपरक अनुशासन की प्रकृति और तर्क की व्याख्या की (प्रसाद, 1998)। उसके तहत बचपन में कला शिक्षा का उद्देश्य आजादी होता है। अपने शिक्षण के अनुभव का विश्लेषण करते हुए प्रसाद ने प्रमाणित किया कि आजादी के उद्यम से बच्चे आत्म-चेतना, संतुलन, अनुपात एवं सममिति सीखते हैं जिससे वे शांति की तरफ बढ़ते है। गांधी के राजनीतिक विचार भी हमें इतिहास और नागरिक शास्त्र जैसे विषयों को पुनर्व्यवस्थित करने की दृष्टि देते हैं। अपने वर्तमान प्रारूप में ये विषय राष्ट्रवादी बैर बढ़ाने में जो योगदान देते हैं उसकी गांधी के नजरिये से आलोचना की जानी चाहिए जो उन्होंने आधुनिक सभ्यता और उसके भय तथा आक्रामकता बढ़ाने वाली प्रवृत्ति के बारे में विकसित किया।

## खण्ड 4 समसामयिक परिदृश्य

ऊपर चर्चित शिक्षा में बाल-केन्द्रित विचारों एवं प्रक्रियाओं की विरासत से हमें शांति शिक्षा के तत्व मिलते हैं। ये हैंः बच्चे के अभिकर्तृत्व को पहचानना और उसके अनुभवों पर चिंतन कराने में शिक्षक की भूमिका। अगर हम इन आदर्शों को आधार बनाते हुए प्रचलित दौर का परीक्षण करें तो पाते हैं कि जिन व्यवहारों को चुनौती दे दी गई थी और जिन की जगह बाल-केन्द्रित पद्धति आ गई थी उनका पुनरुत्थान हुआ है। इस पुनरुत्थान में बड़ा दम है और यह इतना व्याप्त है कि सैन्यीकरण या रेजमेंटेशन की किसी भी आलोचना का प्रतिरोध करता है नहीं तो उसे अव्यवहारिक तो बता ही देता है।

सूचना प्रसार की तकनीक में विकास होने से शिक्षा में नीति एवं स्कूली शिक्षण के रोजमर्रा के जीवन में यांत्रिक विचारों को बढ़ावा मिला है। एलकाइंड (प्रसाद, 1998) द्वारा वर्णित "नया तकनीकी माहौल" बच्चे को ऐसी ताकतों का मोहरा बना देता है जिनको अविभावक एवं शिक्षक पूरी तरह समझ भी नहीं पाते। नव-व्यवहारवादी पाठ्यचर्या और शिक्षणशास्त्र की वकालत ने शिक्षक की स्वायत्ता को खत्म कर दिया है। इन बदलावों की अगुवाई कर रहे हैं प्रबंधन विषेशज्ञ जो शिक्षा को एक और ऐसे क्षेत्र की तरह मानते हैं जिसमें वे कार्यक्षमता बढ़ा सकते हैं। उनके हस्तक्षेप के कारण शिक्षा में मौजूद लोकतांत्रिक संभावनाएं नष्ट हुई हैं जो उसको सामाजिक संस्था के रूप में विकसित करने के लिए उपलब्ध थीं। उभरते हुए शिक्षणशास्त्रीय परिदृश्य में प्रतियोगितावाद एवं जवाबदेही को बढ़ावा देने के लिए परीक्षण का बोलबाला है।

मानव पूंजी सिद्धांत की अनुगूंज लिए नीतियों के गट्ठर पढ़ने एवं पढ़ाने के यांत्रिक मॉडलों को सही ठहराते हैं। ऐसे में शांति शिक्षा एक यंत्र की तरह सामने लाई जाती है जिसके कुछ ठोस फायदे हों। एक तो है कि शांति की अवधारणा को कुछ व्यवहारों तक सीमित कर दो जिनको नापा जा सके और जिनमें फेर बदल किया जा सके। इस तस्वीर को पूरा करने के लिए हमें आर्थिक नीतियों की तरफ जाना होगा जिनके कारण हाल की शिक्षा के बदलाव आए। अक्सर इन नीतियों के लिए नव-उदारवादी शब्द का प्रयोग किया जाता है जो सामाजिक नीति के हरेक पहलू में निजीकरण की तरफ झुकाव का हवाला देता है। शोध दिखाते हैं कि पूरी दुनिया में युद्ध-सामग्री पर होने वाले खर्चे

में उग्र बढ़त हुई है जो नव-उदारवाद और सैन्यवाद में जोड़ बिठाती है (साइफर, 2007)। इस आर्थिक प्रचलन से पता चलता है कि एक विचारधारा के रूप में क्यों राष्ट्रवाद की बहाली हो रही है।

धार्मिक-सांस्कृतिक आधारों पर परिभाषित राष्ट्रवाद भारत में प्रबल हुआ है जिससे धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय अस्मिता के पुराने दावे ठंडे पड़ गए। धर्मनिरपेक्षतावाद के खण्डन और सार्वजनिक मीडिया के द्वारा धर्मिक अलगाववाद के प्रोपागैंडा के चलते उत्तर भारत के कई इलाके पाकिस्तान जैसे हो गए हैं जहां धर्म राष्ट्रीय अस्मिता का चिह्न रहा है। राजस्थान में राज्य के स्तर पर बदली गई स्कूली पाठ्यपुस्तकों में राजनीतिक गठन लिए क्षेत्रीय अस्मिता को बढ़ावा देने का प्रयास किया गया जिसके लिए मध्ययुगीन संघर्षों को विकृत कर के आधार बनाया गया। नया इतिहास मध्ययुगीन योद्धाओं की धर्मिक पहचान का इस्तेमाल करके समसामयिक भारत के लिए बहुसंख्यकवादी राष्ट्रीय अस्मिता को सही ठहराता है। प्रादेशिक पाठ्यपुस्तकों एवं पाठ्यचर्या का यह अकेला उदाहरण नहीं है जिसमें संप्रदायवादी राजनीति को बढ़ावा मिला। केन्द्र एवं प्रादेशिक स्तरों के बीच पाठ्यचर्या संबंधी नियोजन में हमेशा से गुणवत्ता एवं लक्ष्यों के स्तर पर फासला रहा है। जब हम इस बात पर ध्यान देते हैं कि प्रादेशिक पाठ्यपुस्तकें उन स्कूलों में इस्तेमाल होती हैं जहां समाज के गरीब तबके के बच्चे पढ़ते हैं तब समझ आता है कि कैसे सामाजिक-आर्थिक गैरबराबरी पाठ्यचर्या संबंधी सुधार की गूढ़ता को बढ़ा देती है।

## उपसंहार

आइए भारत-पाक किस्से को वर्तमान के आर्थिक नीति के परिदृश्य में रखते हुए इस चर्चा का निष्कर्ष निकालें। जब तक शिक्षा की विषयवस्तु और तरीकों में बदलाव नहीं आता तब तक दीर्घकालीन दुश्मनी बरकरार रखने में शिक्षा की भूमिका में बदलाव नहीं आएगा। ऐसे बदलाव के लिए शांति शिक्षा मौका देती है कि हम प्रचलित नीतियों और प्राथमिकताओं पर प्रश्न उठाएं। वह खुद शिक्षा पर ही सवाल उठाने का आग्रह करती है। इससे पहले कि शिक्षा शांति में योगदान दे पाए उसकी अपनी मानववादी संभावनाओं को बचाना होगा। शिक्षा को संपूर्ण सैन्यीकरण या रेजमेंटेशन का औजार बनाने का जो हर तरफा प्रयास हो रहा है शिक्षा शांति को उसके प्रतिरोध के ठौर की तरह भी देखा जा सकता है। शिक्षा शांति को प्रतिरोधी ताकत बनाने के लिए उसके मुख्य घटकों की अभिव्यक्ति जरूरी है, यह घटक हैं : सीखने में व्यक्तिगत अर्थ बहाल हो, संस्थागत शिक्षा की किसी भी प्रक्रिया में विवेचनात्मक पड़ताल केन्द्र में हो और स्थाई शांति के लिए न्याय का महत्व।

इन मुख्य घटकों और उनके बीच की पारस्परिक क्रिया से शिक्षा में सुधार की दिशा मिल सकती है। शिक्षा का एक बड़ा संकट है कि वह स्कूल या कालेज के अनुभव को सार्थक नहीं बना पाती। राज्य की संस्था के रूप में स्कूल बचपन का सर्वत्र लागू अनुभव बन चुका है। स्कूल का आकर्षण और औचित्य निहायत ही बढ़ गए हैं। स्कूल की शिक्षित करने की क्षमता साथ ही उसकी स्वायत्तता और उन मूल्यों को बनाए रखना जो शिक्षा की अवधारणा में ही निहित होते हैं जो कि घट गए हैं (मिरि, 2014)। आर्थिक और राजनीतिक मांगों में ऐतिहासिक बदलावों ने शिक्षा पर असर डाला है और जिज्ञासा व खोजबीन के माध्यम से अर्थ की तलाश में युवा की मदद करने की इसकी क्षमता को प्रभावित किया है। स्कूल सुधार के लिए जरूरी है कि शिक्षा पर इस बात के लिए विश्वास बना कर रखा जाए कि वह दुनिया को समझने के मायने दे सकती है। वैश्विक नागरिकता के विचार से कुछ मूल्यवान ऊर्जा और दिशा मिलती है लेकिन वह यांत्रिक रूप से पाठ्यचर्या के कुछ जोड़-तोड़ तक सीमित न हो। विवेचनात्मक पड़ताल में लिप्त शिक्षा का निहितार्थ होता है अपने आप को एक एतिहासिक दौर में रख पाना और समझ पाना कि हम वहां तक कैसे पहुंचे ताकि हम आज की समस्याओं पर काम कर पाएं।

किसी विवाद का अध्ययन करते हुए विवेचनात्मक पड़ताल हमें अपनी भावनात्मक ऊर्जा को पहचाानने और उसके निर्गमन में मदद करती है। जब विवाद में डूबा अतीत पड़ताल के जरिए निकल कर आता है तो हमें यह अंदाजा लगााने का मौका मिलता है कि शांति के लिए किस फलक पर जाकर न्याय की जरूरत है। यह जरूरी है अगर भविष्य को

अतीत और वर्तमान से अलग करना है। शिक्षा एक परिवर्तनशील ऊर्जा बन सकती है अगर शिक्षार्थी उसे मानसिक तलछट में जमे अतीत की पड़ताल का मौका दे। ऐसे में बच्चे वह विकसित करेंगे जिसे यशपाल (2006) ने ''समझ का स्वाद'' कहा है। वह हमारे बच्चों के वर्तमान को सृजनात्मक, हितकारी एवं मजेदार बना देगा।

इस तरह से परिभाषित, बाल-केन्द्रित बनाने के लिए शैक्षिक सुधार से आशय होगा उसकी सैन्यीकरण या रेजमेंटेशन की शक्ति में ढील देना। इस शक्ति के कई स्रोत हैं और इसका वास स्कूल की रोजाना की संस्कृति में रहता है। स्कूल में शिक्षा की प्रक्रिया में निहित सैन्यीकरण या रेजमेंटेशन के अलावा एक आदेश राज्य से आता है जो स्कूल पर राष्ट्रवादी आदर्श और कल्पना को बढ़ावा देने की जिम्मेदारी थोपता है। इसलिए स्कूल राज्य के हाथ में बच्चों में जीवन के शुरू में ही राज-भक्ति जगाने का एक औजार बन जाता है। यह प्रक्रिया स्कूल पर दवाब बनाती है कि वह शिक्षा के मानवतावादी मूल्यों की अवहेलना करे और बस एक समर्पित नागरिक बनाने में जुट जाए। यह शंका रूसो ने जताई थी कि राज्य मानवता की बजाए नागरिक की वफादारी को वरीयता देने के लिए शिक्षा का इस्तेमाल करेगा (सोतार्द, 1994)। आज के समय में उनका प्रश्न और भी प्रासंगिक हो गया है कि क्या हम बिना मानव को आहत कर नागरिक को पोषित कर सकते हैं। राष्ट्र-राज्यों में दुश्मनी के असंख्य मामलों में शिक्षा एतिहासिक रूप से वंशानुगत दुश्मनी की चेतना को स्पष्ट रूप से बढ़ावा देती है और अतीत से सामंजस्य बिठाने की क्षमता कम कर देती है (फ्रबर्ग एवं शुंग, 2017; कुमार, 2003)। शिक्षा के द्वारा मानवतावादी आदर्शों एवं मूल्यों की बहाली तभी संभव है जब शिक्षा का खुद का पुनर्निर्माण हो जो शिक्षा की अवधारणा और व्यवस्था के बीच फासले को पाटे। ◆

**लेखक परिचय :** जाने-माने शिक्षाविद्, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के पूर्व निदेशक और दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय शिक्षण संस्थान से सेवानिवृत्त।

**संपर्क :** anhsirk.kumar@gmail.com

**संदर्भ :**

Berger, P. and Luckmann, T. 1966. The Social Construction of Reality (New York: Anchor Books).

Bourdieu, P. 1991. Language and Symbolic Power (Adamson, Camb: Polity)

Bruner, J. 1987. Actual Minds, Possible Worlds. (Cambridge, Mass: Harvard University Press)

Clark, C 1998. 'Discipline in Schools' British Journal of Educational Studies ( 46:3) pp. 289-301

Cohn, B. 1987. An Anthropologist among the Historians. (Delhi: Oxford)

Cypher, James M. 2007. 'From Military Keynesianism to Global Neo-liberal Militarism' Monthly Review (59:2)

Economist. 2017. 'Whither Nationalism?' Economist (December 19)

Elkind, David. 2003. 'Technology's impact on child growth and development' http://www.cio.com/.../david-elkind--technology-s-impact-on-child-growth-and-deve.

Frieberg, A. and Chung, M. (eds.) (2017). Reconciling with the Past: Resources and Obstacles in a Global Perspective (London: Routledge).

Gaur, Nidhi 2016. 'Learning through crafts: a study of an experimental school' Vidyapith (4)pp. 67-82..

Gupta, L. 2008. 'Growing up Hindu and Muslim' Economic and Political Weekly (43: 6-9).

Gupta, L. 2015. 'Making reflective citizens: India's new textbooks for Social and Political Life', in E. Vickers and K. Kumar (eds.) Constructing Modern Asian Citizenship (London: Routledge) pp 105-124.

Holt, John. 1964. How Children Fail. (New York: Pitman).

Horvat and Antonio. 1999. Anthropology and Education.

Kadyan, S. 2008. 'My Learning' Seminar (592: December).

Kakar, Sudhir. 1996. The Colours of Violence (Chicago: University of Chicago Press).

Krishnamurti, J. 1953. Education and the Significance of Life (Chennai: Krishnamurti Foundation).

Kozol, J. 1968. Death at an Early Age (New York: Barnes and Noble).

Kesavan, M. 2001. Secular Common Sense. (New Delhi: Penguin).

Kumar, K. 2001. Prejudice and Pride: School Histories of the Freedom Struggle in India and Pakistan (New Delhi: Viking/Penguin).

Kumar, K. 2003. 'Peace with the Past' Seminar (522).

Kumar, K. 2007. Battle for Peace (New Delhi: Penguin).

Kumar, K. and Oesterheld, J. (eds.) Social Change and Education in South Asia (New Delhi: Orient Blackswan).

Kumar, K. 2016. Education, Conflict and Peace (New Delhi: Orient Blackswan).

LaDousa, C. (2015). Hindi is our Ground, English is our Sky (Cambridge: Cambridge University Press).

Miri, Mrinal. 2014. Philosophy and Education (New Delhi: Oxford).

Parel, Anthony. 2016. Pax Gandhiana: The Political Philosophy of Mahatma Gandhi (Oxford: Oxford University Press).

Prasad, Devi. 1998. Art: The Basis of Education (New Delhi: National Book Trust).

Razzack, A. 1991. 'Growing up Muslim' (Seminar 387).

Russell, Bertrand. 1916/2004. Why Men Fight (New York: Cosimo Classics).

Saigol, R. 2015. 'The Making of the Pakistani Citizen: Civics Education and State Nationalism in Pakistan', in E. Vickers and K. Kumar (eds.) Constructing Modern Asian Citizenship (London: Routledge) pp 175-195.

Sheean, Vincent. 1949. Lead Kindly Light (New Delhi: Random House).

Sinha, D. (ed.) 1984. Socialization of the Indian Child) New Delhi: Concept).

Soetard, M. 1994 'Jean-Jacques Rousseau' Prospects (24: ¾) pp 423-437.

Srinivasan, S. 2016. 'The Cult of the Charkha: Gandhi on Education and Ethical Learning' Pragmata (3:1) pp. 100-123.

Tagore, Rabindranath. 2004. Selected Essays (New Delhi: Rupa).

UNESCO MGIEP. 2017 Rethinking Schooling for the 21st Century: The State of Education for Peace, Sustainable Development and Global Citizenship in Asia (UNESCO MGIEP 2017). https://unesdoc.unesco.org/images/0026/002605/260568e.pdf

Yadav, P. 2014. 'Vidyalayakisanskriti: ekadhyayan' (Unpublished M.Ed. dissertation, University of Delhi).

Yash Pal. 2006. "Foreword' in National Curriculum Framework- 2005 (New Delhi: NCERT).

# भ्रमित सोच का एक उदाहरण

## संदर्भः राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2019 का मसौदा

रोहित धनकर

अनुवाद : जनित जैन

*यह लेख* दिखाता है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2019 के मसौदे में स्वयं उन क्षमताओं की कमी है जिन पर यह जोर देता है; जैसे आलोचनात्मक चिंतन व गहन समझ। यह एक खराब तरह से लिखा हुआ दस्तावेज है जो कि 'कौशल' की एक व्यापक व प्रधान अवधारणा के अंतर्गत जुटाई गई आधी समझी हुई शब्दावली के जंजाल के पीछे छुपने की कोशिश करता है।*

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2019 के मसौदे में लगभग 50 पृष्ठ पाठ्यचर्या व शिक्षणशास्त्र को समर्पित हैं। इससे किसी भी ऐसे शिक्षक को हार्दिक खुशी होगी जो देश में शिक्षाक्रम व शिक्षणशास्त्र के सिद्धांतों की गुणवत्ता हेतु चिंता महसूस करता है। मगर अफसोस, यहां मात्रा का गुणवत्ता से कोई संबंध नहीं है।

पाठ्यचर्या संबंधी निर्णयों हेतु किसी भी तरह के सुसंगत व मूल्यवान सुझाव एक सैद्धांतिक ढ़ाचे की मांग करते हैं जो वांछित समाज और शिक्षा के सामान्य लक्ष्यों को परिभाषित करता हो। इस तरह के किसी भी ढांचे की गैरमौजूदगी में तथाकथित व्यावहारिक ज्ञान सिर्फ कुछ अनियंत्रित और निराधार विचारों को जन्म देता है जो एक-दूसरे का कंधा छीलते नजर आते हैं। ठीक यही हुआ है राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2019 के मसौदे की पाठ्यचर्या संबंधी अनुशंसाओं के साथ।

हालांकि यह कुछ अच्छे सुझाव भी देता है, जैसे माध्यमिक स्तर पर लचीलापन और एक व्यापक दायरा, नैतिक चिंतन के लिए जगह, तृभाषी फोर्मूले की मूलभावना पर पुनः बल देना, विभिन्न विषयों में मूल अवधारणाओं और मुख्य विचारों पर ध्यान, रटंत पद्धति से बचना, व्यावसायिक कोर्स, आकलन में समझने पर जोर। लेकिन उच्च-प्राथमिक स्तर पर बहुत सारे विषय/कोर्स शामिल कर दिए गए हैं, प्रारंभिक बाल्यावस्था शिक्षा के स्तर पर तीन भाषाएं प्रस्तावित हैं, और यह भ्रमित करने वाले वक्तव्यों के जंजाल से भरा हुआ है। इससे यह एक लम्बी-चौड़ी सूची बन गई है जो उच्च-प्राथमिक स्तर पर कई सारे विषय, मुद्दों और कौशलों से भरी हुई है। यह दृष्टि, विषयवस्तु और शिक्षणशास्त्र के बारे में एक खास तरह की सोच का परिणाम नजर आती है। इस सोच ने पाठ्यचर्या व शिक्षणशास्त्र संबंधी विमर्श में लापरवाहपूर्ण ढंग से इस्तेमाल की गई शब्दावली के साथ मिलकर मामले को और बिगाड़ दिया है।

### भारत केंद्रित दृष्टि

दस्तावेज में शिक्षा के लिए अपनाई गई दृष्टि को कुछ इस तरह व्यक्त किया गया है, ''एक **भारत केंद्रित** शिक्षा व्यवस्था जो सभी को उच्च-गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करके प्रत्यक्ष तौर पर हमारे राष्ट्र के एक **न्यायसंगत** और **जीवंत** ज्ञान समाज के रूप में **स्थाई** रूपांतरण में भूमिका निभाएगी।'' यहां यह जो 'प्रत्यक्ष

* यह लेख संपादित व कुछ छोटे रूप में 13 जुलाई, 2019 को द हिन्दू में प्रकाशित हो चुका है।

तौर पर' शब्द इस्तेमाल किया गया है, इससे शिक्षा से जुड़े हुए कुछ गहन पक्षों के संदर्भ में एक किस्म की जल्दबाजी और अधीरता दिखाई देती है जो शायद 'ज्ञान समाज' के बनने में 'प्रत्यक्ष तौर पर उपयोगी' नहीं हैं। शिक्षा में यह जो 'भारत-केंद्रितता' है, यह सिर्फ भारतीय भाषाओं के बारे में कुछ अनुशंसाओं और भारतीय ज्ञान व्यवस्थाओं तक सीमित है। व्यावहारिक परिकल्पना, दरअसल, 'ज्ञान समाज' की है जो कि लगभग पूरी की पूरी यूनेस्को द्वारा प्रचारित 21वीं शताब्दी के कौशलों में मौजूद है। लोकतांत्रिक आदर्श का कोई उल्लेख या इस्तेमाल ना तो पाठ्यचर्या संबंधी अनुशंसाओं में दिखाई देता है और ना ही शिक्षा के लक्ष्यों को निरूपित करते वक्त। हालांकि, लोकतांत्रिक मूल्यों को विषयों से जुड़े हुए मुख्य कौशलों में शामिल किया गया है। वास्तव में, नीति में 21वीं शताब्दी के कौशलों के अलावा शिक्षा के लक्ष्यों जैसी कोई अवधारणा दिखाई ही नहीं देती।

उपरोक्त अनुच्छेद में मैंने जो कहा है उसके खिलाफ एक संभव तर्क यह हो सकता है कि यूनेस्को दस्तावेजों में ज्ञान समाज को जिस तरह परिभाषित किया गया है, उसमें विचारों की स्वतंत्रता व अन्य मानवीय मूल्यों पर जोर दिया गया है, इसलिए यह शिक्षा में लोकतांत्रिक आदर्शों का खयाल रखता है। लेकिन ज्ञान समाज का विचार भी सिर्फ डिजिटल कनेक्टिविटी और आर्थिक विकास की ही बात करता है। यह सोचने की बात है कि लोकतांत्रिक अधिकार और मूल्य अकेले डिजिटल कनेक्टिविटी और आर्थिक विकास से सुरक्षित रखे जा सकते हैं या फिर मामला उलटा है कि लोकतांत्रिक मूल्यों और स्वतंत्रता के प्रति प्रतिबद्धता और बेहतर समझ समतापूर्ण विकास और कनेक्टिविटी को सभी के लिए सुगम और सार्थक बनाता है।

इस संदर्भ में मंत्री जी का संदेश बहुत कुछ बयां करता है : जनसांख्यकीय ढांचे की बेहतरी के लिए हमारी सरकार का यह वायदा था कि गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, नवाचार व शोध के संदर्भ में जन की बदलती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह एक राष्ट्रीय शिक्षा नीति को लागू करेगी ताकि भारत के छात्रों को जरूरी ज्ञान और कौशल प्रदान करके भारत को एक ज्ञान महा-शक्ति बनाने के लक्ष्य तक पहुंचा जा सके। मंत्री के संदेश में 'ज्ञान' के मायने, जाहिर है, कौशलों का ज्ञान हैं। यहा अध्यक्षीय प्रस्तावना कुछ अधिक संतुलित प्रतीत होती है क्योंकि, यह कम से कम 'विभिन्न बढ़ते हुए विकास कार्यों' में योगदान देने के पीछे एक 'न्यायपूर्ण व समता आधारित समाज' का जिक्र करती है। जनसांख्यकीय लाभांश के माध्यम से आर्थिक विकास को तो केंद्र में रखा गया है जबकि लोकतांत्रिक दृष्टि सिर्फ़ कहीं-कहीं दिखावटी तौर पर ही नजर आती है, जैसे 'कौशलों' की सूची में। इसका सिर्फ 'जिक्र' किया गया है, इसे नीति का आधार नहीं बनाया गया है और न ही पाठ्यचर्या में यहां से कुछ बहुत महत्वपूर्ण शामिल किया गया है।

एक और जगह जहां लोकतांत्रिक आदर्शों का जिक्र किया गया है वह है, वित्त संबंधी पृष्ठ। जहां शिक्षा में वित्तीय आवंटन को बढ़ाने हेतु ''सबसे अच्छा निवेश'' का मुहावरा इस्तेमाल किया गया है जो कि सही भी है वहीं लोकतांत्रिक आदर्शों का भी जिक्र किया गया है, ''ऐसा करते वक्त यह विचार भी नहीं किया गया है कि शिक्षा से संबंधी कई सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य व लाभ ऐसे हैं जिन्हें आर्थिक परिप्रेक्ष्य में कतई नहीं देखा जा सकता। उदाहरण के लिए, एक मजबूत लोकतंत्र, समतामूलक समाज व सांस्कृतिक जीवंतता। समस्या यह है कि दृष्टिपत्र का मूल स्रोत कहीं और है। पाठ्यचर्या के उद्देश्य व अनुशंसाओं का मूल ज्ञान समाज व 21वीं सदी के कौशलों में है, लोकतांत्रिक आदर्श तो सिर्फ साथ में लटक कर चले आए हैं।

**पूछा जा सकता है : इसमें गलत क्या है?** मुद्दा यह है कि आप किस चीज पर जोर देते हैं। शिक्षा का मुख्य मुद्दा नैतिक विकास होना चाहिए। इसे, आज की दुनिया में इस तरह व्यक्त किया जाता है : एक आलोचनावादी व चिंतनशील नागरिक जो न्याय, समानता, स्वतंत्रता व गरिमा के लोकतांत्रिक आदर्शों को थामकर चले। सभी समाजों में एक मजबूत अर्थव्यवस्था की भी दरकार होती है; आर्थिक लक्ष्य आवश्यक तौर पर शैक्षिक ढांचे व पाठ्यचर्या का ही एक हिस्सा होते हैं। लेकिन सच्चाई यह है कि आर्थिक काबिलियतें लोकतांत्रिक आदर्शों के लिए आवश्यक 'संसाधन' होती हैं न कि इसके उलट। जिन चीजों से पाठ्यचर्या का निर्माण होता है वह हैं, इस तरह के व्यक्ति के निर्माण हेतु आवश्यक बौद्धिक विशेषताएं, ज्ञान व कौशल। यदि 21वीं सदी के कौशलों को केंद्र में रखा जाएगा तो नैतिक पक्ष

सिर्फ ज्ञान समाज के निर्माण हेतु आवश्यक कुछ 'मुट्ठी भर कौशल' के रूप में आएगा ना कि समाज, राज्यव्यवस्था और अर्थव्यवस्था को संगठित करने के निर्देशक सिद्धांत के तौर पर। इसका परिणाम यह होगा कि एक विकृत पाठ्यचर्या सामने आएगी जो आर्थिक रूप से उपयोगितावादी 'कौशलों', जो कि अपने-आप में स्वयं-सिद्ध हों, के पक्ष में झुकी होगी, जहां सामाजिक राजनैतिक जीवन को नजरअंदाज कर दिया जाएगा। प्रस्तुत पूरे दस्तावेज में यह काफी स्पष्ट तौर पर दिखाई देता है।

## पाठ्यचर्या के उद्देश्य

ज्ञान समाज की परिकल्पना सीधे तौर पर 'पाठ्यचर्या व शिक्षणशास्त्र' से संबंधित अध्याय के लिए उल्लिखित उद्देश्यों की तरफ ले जाती हैः ''पाठ्यचर्या व शिक्षणशास्त्र के स्वरूप को 2022 तक इस तरह से रूपांतरित किया जाएगा कि रटन्त आधारित अधिगम को कम से कम किया जा सके व इसकी जगह सर्वांगीण विकास व 21वीं सदी के कौशलों, जैसे आलोचनात्मक चिंतन, रचनात्मकता, वैज्ञानिक चिंतन, संप्रेषण, सहभागिता, बहुभाषिता, समस्या समाधान, नैतिकता, सामाजिक जिम्मेदारी व डिजिटल लिटरेसी को प्रोत्साहित किया जा सके।'' यहां सबसे महत्वपूर्ण व सार्थक शब्द 'कौशल' है और प्रत्येक चीज को इसी के अंतर्गत फिट होना है; नैतिकता व सामाजिक जिम्मेदारी को भी! नीति के प्रस्तुत मसौदे के अनुसार'' जो लक्ष्य होगा वह है, ऐसे समग्र व पूर्ण व्यक्तियों का निर्माण करना जो 21वीं सदी के कौशलों से युक्त हों। इससे 'समग्र व पूर्ण वयक्तियों' की परिभाषा काफी स्पष्ट हो जाती है।

कुछ एक सुझाव जिनमें नए विषयों/कोर्स आदि को शामिल किया गया है, के बाद एक और वक्तव्य दिखाई देता है जो ''अनिवार्य विषयों व कौशलों का पाठ्यचर्या में समायोजन'' शीर्षक के अंतर्गत आता है व पाठ्यचर्या के उद्देश्य या शिक्षा के लक्ष्यों जैसा दिखाई देता है। यहां शुरुआती वक्तव्य व विषय/कौशलों की सूची को ठीक से समझा जाना उपयोगी होगा। यह कहता हैः''... यह नीति कल्पना करती है कि **कुछ खास विषय व कौशल सभी छात्रों द्वारा सीखे जाने चाहिए ताकि वे तेजी से बदलती दुनिया में एक अच्छे, सफल, नवाचारी, अनुकूलनीय व उत्पादक इंसान बन सकें।** भाषाओं में दक्षता के अलावा इन **कौशलों** में शामिल हैंः वैज्ञानिक चिंतन; **कला व सौंदर्य बोध**; भाषाएं; संप्रेषण; **नैतिक चिंतन**; डिजिटल लिटरेसी; **भारत की समझ; व स्थानीय समुदायों, राज्यों, देश व दुनिया के सामने आने वाले महत्वपूर्ण मुद्दे**।'' (जोर दिया गया है)। मोटे तौर पर लक्ष्य है **''अच्छे, सफल, नवाचारी, अनुकूलनीय, व उत्पादक इंसान।''** यह एक ऐसा नागरिक नहीं है जो स्वयं ये सोचना चाहे कि 'अनुकूलन' स्थापित करना है या 'चुनौती' देना है; बल्कि, इसे जो उपलब्ध है उसके साथ तालमेल बिठाना है व सफल होना है। तब सभी 'मानवीय काबिलियत व चारित्रिक विशेषताओं' का तात्पर्य होता है, इस अनुकूलन और सफलता के लिए आवश्यक 'कौशलों' का होना। यह याद रखना चाहिए कि **मूल्य हमारा मार्गदर्शन करने के लिए होते हैं** कि क्या करना लाजमी है व **कौशल वे औजार हैं** जिनकी मदद से हम अपने तय किए हुए कार्य को बेहतर ढंग से कर सकें। जब मूल्य ही कौशल बन जाएं तब यह सवाल कि क्या करना लाजमी है, का जवाब पहले ही प्राप्त हो जाता हैः दी गई व्यवस्था में सफलता हासिल करना। एक मनुष्य के तौर पर मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता का निर्णयात्मक महत्व होना व सफलता के लिए 'मूल्यों का एक टूल किट' की तरह होना, दो बिलकुल अलग-अलग चीजें हैं।

आठ कौशलों की दी गई सूची से यह अपेक्षित है कि इस तरह के सफल व अनुकूलनीय व्यक्तियों का 'निर्माण' हो। शब्दावली का जिस तरह इस्तेमाल किया गया है वह हर तर्क से परे है। केवल इतना ही नहीं 'सौंदर्य बोध' व 'नैतिक चिंतन' को कौशल समझ लिया गया है; 'प्रमाण आधारित व वैज्ञानिक चिंतन' को हर जगह साथ-साथ इस्तेमाल किया गया है, यानी ऐसा भी कोई 'वैज्ञानिक चिंतन' हो सकता है जो 'प्रमाण आधारित' ना हो। या फिर हो सकता है कि यह इसलिए हो कि आजकल 'प्रमाण आधारित' शब्दावली काफी प्रचलन में है जहां 'वैज्ञानिक चिंतन' सही मायने में क्या है इसे समझा ही नहीं गया है। अस्पष्ट मान्यताएं निश्चयात्मक ढंग से प्रस्तुत की गई हैं, एक उदाहरण देखिएः ''प्रमाण आधारित व वैज्ञानिक चिंतन पूरी पाठ्यचर्या के दौरान स्वाभाविक रूप से ऐसे विवेकशील, नैतिक व संवेदनशील व्यक्तियों के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करेगी जो कि अपने जीवन के दौरान अच्छे, तार्किक व सही निर्णय ले पाएंगे।''

शब्द 'विवेकशील' 'वैज्ञानिक चिंतन' से ज्यादा विस्तृत है क्योंकि सोचने के विवेकपूर्ण तरीके सिर्फ 'वैज्ञानिक' के परे भी जाते हैं, जैसे नैतिक व सौंदर्यपरक निर्णय। इसलिए, वैज्ञानिक चिंतन नहीं बल्कि विवेकशील चिंतन ही नैतिक चिंतन के **बौद्धिक पहलू** की गारंटी है। लेकिन 'नैतिक व्यक्ति' की **मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता** भी होती है जिसके लिए केवल विवेकशील चिंतन या वैज्ञानिक चिंतन के अलावा कुछ और भी आवश्यक है। वैज्ञानिक चिंतन अकेले किस तरह 'संवेदनशीलता' को विकसित करेगा, यह समझ से परे है। इसके अलावा, समस्या समाधान व तार्किक चिंतन इन सर्वथा महत्वपूर्ण कौशलों की सूची में अलग शीर्षक के तौर पर रखे गए हैं, इसका तात्पर्य है कि ये ना तो वैज्ञानिक चिंतन का हिस्सा हैं और ना ही विवेकशील चिंतन का। बड़े कमाल की बात है कि 'प्रमाण आधारित व वैज्ञानिक चिंतन' से नैतिक, विवेकशील व **'संवेदनशील'** व्यक्ति के विकास की उम्मीद की जा रही है लेकिन **'तार्किक व समस्या समाधान करने वाले व्यक्ति'** की नहीं। ये सोचने वाली बात है कि तार्किक व समस्या समाधान की काबिलियतों का कौनसा हिस्सा ऐसा है जो प्रमाण आधारित, वैज्ञानिक व विवेकशील चिंतन के दायरे के बाहर आता है। यह सब दरअसल इसलिए है क्योंकि, कौशलों को स्वयं-सिद्ध सत्य या बुनियादी सूत्र मान लिया गया है। इसलिए इस तरह की प्रचलित शब्दावली से जितनी लम्बी संभव हो उतनी लम्बी सूची बनाने की इच्छा नजर आती है। लेकिन इनका सही अर्थ क्या है और ये, वास्तव में, एक-दूसरे से व मानवीय सामर्थ्य से किस तरह जुड़ी हुई हैं, यह समझना काफी पेचीदा प्रतीत होता है।

इस लेख में अब तक की गई चर्चा लोगों को बाल की खाल निकालने जैसी लग सकती है। लेकिन, एक नीतिगत दस्तावेज कई स्तरों पर पढ़ा और समझा जाता है तथा यह शैक्षिक विमर्श को प्रभावित करता है। एक दस्तावेज जो स्पष्ट समझ व विवेचनात्मक चिंतन पर इतना जोर देता है, स्वयं इन मानदंडों पर खरा ना उतरे, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। राष्ट्रीय स्तर पर एक बनावटी सोच किसी को भी नीति की सही व्याख्या व क्रियान्वयन के प्रति सजग रहने हेतु बाध्य करती है। यह कई नीतिगत अनुशंसाओं में पहले से ही दिखाई देता है। ऐसे कुछ उदाहरण नीचे दिए गए हैं।

नीति का प्रस्तुत मसौदा इस संबंध में काफी भ्रमित स्थिति में दिखाई देता है कि आधारभूत पड़ाव किसे कहा जाए। यह निजी प्री-स्कूल की यह कहकर सही ही आलोचना करता है कि ये प्राथमिक विद्यालयों का ही एक किस्म का अधोगामी विस्तार हैं और उनमें औपचारिक शिक्षण की भी। लेकिन इसके बाद 3-6 वर्ष के बच्चों के लिए तीन भाषाओं में पढ़ने व वर्णमाला सीखने की बात करता है। यह छोटे बच्चों की भाषा सीखने की उन्नत सामर्थ्य के नाम पर किया गया है। नीति 'भाषा अर्जन जब बच्चे एक से अधिक भाषाओं में संलग्न हैं' को 'भाषा शिक्षण की परिस्थितियां' समझ लेती है जहां तीन भाषाओं में एक साथ संलग्न होना असंभव है; और फिर इसे पूरी तरह से अनुचित तरीके से तीन लिपी सीखने तक ले जाती है। यह अफसोस जताती है कि प्री-स्कूल प्राथमिक विद्यालयों के ही अधोगामी विस्तार की तरह काम कर रहे हैं और फिर बच्चों को वर्णमाला सिखाकर प्राथमिक स्कूल के लिए तैयार करने का सुझाव देती है, यह भूलकर कि इसी को वास्तव में प्राथमिक स्कूलों का अधोगामी विस्तार कहते हैं। यह 3 वर्ष की उम्र से पढ़ने और लिपी सिखाने की बात करती है, लेकिन 6 वर्ष की उम्र से लिखना और 'कुछ पाठ्यपुस्तकें' 8 वर्ष की उम्र से शुरू करना चाहती है। आखरि इनके लिए पाठ्यपुस्तक के मायने क्या हैं? और ये किस तरह से पढ़ना और लिपी सिखाने की बात कर रहे हैं जबकि कोई लिखित/छपी सामग्री नहीं है? पाठ्यपुस्तकों को लागू करने में 2 वर्ष का इंतजार क्यों किया जा रहा है जबकि बच्चों को पढ़ना और लिखना 6 वर्ष की उम्र तक सिखा दिया जाना है? क्या सीखना तब आसान होता है जब लिखना भी साथ में ही शुरू कर दिया जाए या फिर यह बेहतर है कि पहले 3 वर्ष तक पढ़ना सिखाया जाए और फिर लिखने की बात की जाए?

अच्छा है कि मसौदे में यह प्रतिबद्धता जाहिर की गई है कि ''अनिवार्य विषयवस्तु को पाठ्यक्रम के प्रत्येक शिक्षण क्षेत्र में कम किया जाएगा ताकि मुख्य अवधारणाओं और जरूरी विचारों पर ध्यान केंद्रित किया जा सके।'' ताकि ''चर्चा, गहन समझ, विश्लेषण व मुख्य अवधारणाओं के अनुप्रयोग हेतु ज्यादा जगह हासिल'' हो सके। यह एक बहुत अच्छा सुझाव है। लेकिन फिर यहां से जो जगह हासिल हुई है उससे भी ज्यादा जगह, पहले से मौजूद आठ विषयों के अतिरिक्त छह नए विषयों/कोर्स शुरू करके घेर ली गई है। कुछ नए विषय जैसे (जिसे उच्च-प्राथमिक स्तर पर 'कोर्सेज' कहा

जा रहा है, बिना यह स्पष्ट किए कि कोर्स और विषय में इस स्तर पर क्या फर्क है।) 'विवेचनात्मक मुद्दे' व 'नैतिक चिंतन' को सामाजिक अध्ययन की संशोधित परिभाषा के अंतर्गत ज्यादा बेहतर तरीके से सिखाया जा सकता है, क्योंकि दोनों का ही संदर्भ समाज से आता है। लेकिन नीति उन्हें अलग विषयों की तरह रखना चाहती है। स्थिति जो भी हो, पर सामाजिक अध्ययन को उच्च-प्राथमिक के पाठ्यक्रम में अधिक जगह देने की जरूरत है। इनका शिक्षण इस तरह करना कि समाज के साथ इन्हें जोड़कर देखा जा सके, विवेचनात्मक मुद्दों व नैतिक चिंतन को प्रस्तुत करने का एक बहुत बेहतर तरीका हो सकता है। नैतिक चिंतन को अलग-थलग सिखाने का वही हाल होगा जो कई स्कूलों में तथाकथित नैतिक शिक्षा का हुआ। इसी तरह भारतीय शास्त्रीय भाषा व भारतीय भाषाओं को मिलाकर एक समृद्ध विषय बनाया जा सकता है। मुख्य अवधारणाओं व महत्वपूर्ण विचारों को पहचानना पाठ्यक्रम संबंधी निर्णयों की एक सिद्धांतों पर आधारित व विवेकशील प्रक्रिया है, ऐसा नहीं है कि जो भी विचार दिमाग में आते जाएं उन्हें उतार लिया जाए।

## सामाजिक-राजनीतिक जीवन की गैर-मौजूदगी

सामाजिक-राजनीतिक जीवन की अनुपस्थिति भी ज्ञान समाज व 21वीं सदी के कौशलों पर जोर देने का एक और नतीजा दिखाई देती है। वास्तव में, ऐसा लगता है कि समिति के दिमाग में सामाजिक अध्ययन कहीं मौजूद ही नहीं था, क्योंकि इसका एक बार जिक्र किया गया और फिर पूरी पाठ्यचर्या संबंधी चर्चा में इसे छोड़ दिया गया। उच्च-प्राथमिक स्तर पर यही वह क्षेत्र है जहां पाठ्यक्रम में लोकतांत्रिक मूल्यों को सबसे उपयुक्त तरीके से रखा जा सकता है। लेकिन नीति की सोच भारतीय संविधान और इस देश में लोकतंत्र के विकास की बजाय यूनेस्को की घोषणाओं और रेपोर्टों पर टिकी हुई है; जबकि वे शिक्षा को भारत केंद्रित बनाना चाहते हैं।

इससे यह साफ दिखाई देता है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2019 के मसौदे में स्वयं उन क्षमताओं की कमी है जिन पर यह जोर देता है; जैसे आलोचनात्मक चिंतन व गहन समझ। यह एक खराब तरह से लिखा हुआ दस्तावेज है जो कि 'कौशल' की एक व्यापक व प्रधान अवधारणा के अंतर्गत जुटाई गई आधी समझी हुई शब्दावली के जंजाल के पीछे छुपने की कोशिश करता है। लेकिन इस सबके वाबजूद यह जरूर कह देना चाहिए कि पाठ्यचर्या के मामले में यह जरूर कुछ अच्छे सुझाव पेश करता है, चाहे वे खुद में भी आधे-अधूरे ही हों। ◆

**लेखक परिचय :** अजीम प्रेमजी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर एवं अकादमिक विकास के निदेशक हैं और दिगन्तर, जयपुर के संस्थापक सदस्य व सचिव हैं।

**संपर्क :** rohit.dhankar@apu.edu.in

# गणित शिक्षण भाग-III

## दस का दम (लिखने-पढ़ने में)

रविकांत

दस के दम के साथ 30 तक गिनना सिखाने के बाद हमारे सामने 20 तक की संख्याओं को लिखना-पढ़ना सिखाने की चुनौती पेश आती है। हम जानते हैं कि पारंपरिक तरीके में 1 से 100 तक की लिखित गिनती को दिखा कर उसके नाम मौखिक रूप से रटवाए जाते हैं और लिखना सीखने के नाम पर उसकी नकल करवाई जाती है। यह काम तब तक जारी रहता है जब तक बच्चे इन दोनों कामों में पारंगत न हो जाएं।

कई बार यह सिर्फ चीख-चीख कर गिनती के तौर पर करवाया जाता है तो कई बार चीखने के साथ-साथ बच्चों से गिनती चार्ट में एकदम सटीक जगह पर देखने की भी उम्मीद की जाती है। चीख-चीख कर गिनती बोलने की सीखने में कोई अहमियत भले ही न हो उसके दो तीन-जबरदस्त फायदे इसे ज्यादातर स्कूलों से बेदखल करने में अब तक कामयाब नहीं हो पाए हैं। पहला, इस काम की अगुवाई किसी अगली कक्षा का या उसी कक्षा में गिनती सीख चुका बच्चा आसानी से कर सकता है, सो अध्यापक तमाम जरूरी या गैर जरूरी कामों के लिए मुक्त हो जाता है। दूसरा, थोड़ी देर लगातार चीखने के बाद बच्चे थक-हार कर शांत हो जाते हैं तो कुछ देर तक कक्षा में शांति बनी रहती है। इसके बाद उन्हें अक्सर बिना समझे गिनती की नकल करने जैसा उबाऊ काम थमा दिया जाता है, जिसे बहुत से बच्चे किसी भी सार्थक काम की गैर मौजूदगी की वजह से करते भी रहते हैं। तीसरा, इसके लिए किसी तरह की योजना बनाने, सामग्री जुटाने, बच्चों के पूर्वज्ञान को जागृत करने, उनके परिवेश को समझने आदि की बिल्कुल भी जरूरत नहीं पड़ती। चौथा, इससे बच्चे यह सीखना शुरू कर देते हैं कि स्कूल निरर्थक कामों को करने की जगह है, जिसका मतलब खोजने व पूछने की हिमाकत करना बेवकूफी से ज्यादा कुछ नहीं।

### नकल करना बनाम संख्या गढ़ना या बनाना सीखना

दस से बीस तक की संख्याओं को संख्यांकों की मदद से लिखना-पढ़ना सीखना दस आधारी संख्या पद्धति का सबसे अहमतरीन हिस्सा है। इसलिए इसे गहराई तथा व्यापकता के साथ समझने की जरूरत है। आप कह सकते हैं कि दस आधारी संख्या प्रणाली नामक तोते की जान दस से बीस तक की संख्याओं में ही बसती है। अगर इस दौरान गिनना (दस के दम के साथ) तथा संख्याओं को लिखने-पढ़ने के नियम कायदे तरीके से सीख लिए जाएं या सिखा दिए जाएं तो इसके बाद की संख्याओं की दुनिया में बच्चों की आवाजाही काफी आसान हो जाएगी।

हम जानते हैं कि 9 से आगे बढ़ने पर हमें सौ तक की संख्याओं के नए नाम सिखाने पड़ते हैं। इसके बाद संख्याएं तो काफी तेजी से बढ़ती हैं लेकिन उनके लिए नए नामों की जरूरत कहीं-कहीं ही पड़ती है, जैसे, हजार, लाख, करोड़, आदि। ज्यादातर संख्याओं के नाम पुराने संख्या नामों की मदद से बना लिए जाते हैं,

जैसे, एक सौ एक, सात सौ पंद्रह, आदि। लेकिन संख्या के बराबर मात्रा को गिन लेना व उसका नाम जान लेना ही उन संख्याओं को अंकों में लिखने के लिए काफी नहीं है। दो अंकीय संख्याओं को चीजों व चित्रों की मदद से गिनने की या उन्हें अंकों की मदद से लिखने की काबिलियत के बीच काफी फासला होता है, भले ही गिनते वक्त उन संख्याओं में दस का दम पैदा कर दिया गया हो। मौखिक गिनना सिखाने में हमने दस के दम की अवधारणा सिखाई है व उन संख्याओं के नाम भी रखे हैं। अगर अब तक के पूर्व ज्ञान की बात करें तो हमने 9 तक की संख्याओं को अर्थ के साथ अंकों में पढ़ना-लिखना सिखा दिया है। इन्हीं अंकों की मदद से व दस के दम की अवधारणा की मदद से हम 11 से 19 तक की संख्याओं को अंकों में गढ़ना या बनाना सिखा सकते हैं।

## जगह की कीमत यानी स्थानीय मान

मौखिक गिनती के दौरान पैदा किए गए दस के दम को लिखित संख्या में लाते ही उसे एक नई अवधारणा के साथ जोड़ना पड़ता है, जिसे जगह की कीमत या स्थान का मान या स्थानीय मान कहते हैं। मौखिक गिनते वक्त, भले ही आप दो को पहले गिनो या दस को पहले गिनो, आपको बारह ही मिलेगा। लेकिन लिखते वक्त अगर आपने ऐसा किया तो 12 को पलक झपकते ही 21 बनने में देर नहीं लगेगी। और हम सभी जानते हैं कि 12 को 21 और 21 को 12 लिख देना भारतीय गणित शिक्षण की सनातन समस्याओं में से एक है। इसकी वजह भी साफ है कि हम दस के दम की मदद से संख्याओं को गढ़ना नहीं बल्कि 100 तक की संख्याओं को अंकों में रटना व उनकी नकल करना सिखाते हैं। इस वजह से अक्सर बच्चों के पास इस बात की साफ समझ नहीं होती कि 12 में पहले 1 व उसके बाद या पास में 2 क्यों लिखा जाना चाहिए।

साफ है कि लिखित संख्याओं को गढ़ना सिखाने में पहली महत्वपूर्ण अवधारणा जगह की कीमत है। इस जगह की कीमत को तय करने का भी एक आधार है। और वह है, दस आधारी संख्या प्रणाली की केन्द्रीय अवधारणा- दस का दम। अगर हमारी संख्या प्रणाली दस आधारी न हो कर दो आधारी होती, जैसा कि आजकल कम्प्यूटर की होती है, तो जगह की कीमत दस के दम पर न हो कर दो के दम पर टिकी होती। कम्प्यूटर को थोड़ा बहुत गहराई से जानने वाले इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं कि कम्प्यूटर अपने सारे काम-काज व गणनाएं दो आधारी संख्याई प्रणाली की मदद से करता है।

## संख्या लिखने का नियम

12 को 21 लिखने की समस्या सिर्फ जगह की कीमत तय हो जाने से ही हल नहीं हो जाती। इसके साथ ही एक चीज और जुड़ती है, वह है - संख्या को लिखने का नियम। संख्या प्रणाली में दो अंकीय संख्या को लिखने का नियम तय है। नियम यह है कि उसमें पहले दस के दम वाली संख्या का अंक और उसके बाद/पास या दाएं एक के दम वाली संख्या का अंक लिखा जाएगा। 99 तक की संख्याओं में से दस के दम वाली संख्याएं निकाल लेने के बाद एक के दम वाली संख्याएं ही बचती हैं। जगह की कीमत व संख्या को लिखने के नियम को मिला कर ही हम 12 व 21 में फर्क को समझ सकते हैं।

ऐसा भी नहीं है कि पारंपरिक गणित शिक्षण में इन दोनों बातों को बिल्कुल ही छोड़ दिया जाता है। लेकिन उसमें जगह की कीमत की मदद से संख्या को अंकों में गढ़ने के बजाय जगह की कीमत के नाम का इस्तेमाल करके संख्या को बनाया जाता है। जैसे, 1 दहाई, 2 इकाई, दोनों मिल बनी बारह। इसमें दहाई व इकाई, दस की ताकत और एक की ताकत वाली जगहों के नाम हैं। इससे संख्या तो सही बन जाती है लेकिन उसमें दस का दम पैदा न करने की वजह से बच्चों के मन में उसका कोई मतलब नहीं बन पाता। निरर्थक ढंग से रटे हुए नाम कभी भी अपनी जगह बदल लेते हैं और बच्चे यह समझ पाने में नाकाम रहते हैं कि वो तो 12 लिख रहे थे, लेकिन वह 21 कैसे हो गया।

## शून्य की ताकत

अब तक की बातचीत से आपको यह पता नहीं चल पाया होगा कि 10 और 20 को कैसे गढ़ेंगे व लिखेंगे। ऐसी संख्याओं को गढ़ने वक्त हमारा काम सिर्फ जगह की कीमत व संख्या लिखने के नियम से ही नहीं चलने वाला है। इसमें तीसरी नई अवधारणा और जोड़नी पड़ेगी जिसे हम शून्य की ताकत कह सकते हैं। जब तक शून्य की ताकत को दस आधारी प्रणाली में शामिल नहीं किया जाता है, यह प्रणाली काफी कमजोर ही रहती है। शून्य की ताकत, दस के दम तथा जगह की कीमत के साथ जुड़ कर इसे जबरदस्त तरीके से दमदार बना देती है।

शून्य की ताकत का थोड़ा जायजा लेने के लिए हमें बड़ी संख्या का उदाहरण लेना पड़ेगा। आप दो करोड़ पैंतीस को अंकों में बिना शून्य की मदद लिए लिख कर देखिए। आपको दो सौ पैंतीस और दो करोड़ पैंतीस में फर्क नजर आना बंद हो जाएगा। दो और पैंतीस के बीच आप तयशुदा खाली जगह या शून्य तभी लिख सकते हैं जब आपने शून्य का मतलब एक भी नहीं की अवधारणा को गढ़ लिया हो। बिना शून्य के संख्या प्रणाली में आने वाली मुश्किलों का जायजा लेने के लिए आप रोमन अंकों की प्रणाली को याद कर सकते हैं, जिसमें शून्य का इस्तेमाल नहीं होता और जिसके अवशेष अभी पुरानी डायल वाली घड़ियों या दीवार घड़ियों में मिल जाते हैं। रोचक बात यह है कि उस प्रणाली में दस का दम भी नहीं है और जगह की कीमत बहुत ही सीमित दायरे में है।

इस शून्य की ताकत को संख्या प्रणाली में शामिल करने से पहले शून्य की अवधारणा सिखानी भी पड़ेगी। शून्य की अवधारणा अलग चीज है और संख्या प्रणाली में शून्य की ताकत का इस्तेमाल करना अलग चीज है। आप ध्यान दे सकते हैं कि शून्य की ताकत की जरूरत कुछ खास तरह की संख्याओं में पड़ती है। शून्य संख्या को छोड़ कर शून्य की जरूरत हर उस संख्या में पड़ती है जिसमें दस का दम होता है। ऐसी कोई संख्या सोच कर देखिए जिसमें दस का दम भी नहीं हो और उस संख्या को लिखने में शून्य काम आता हो। आपको एक भी संख्या न मिलेगी।

अब तक तो किसी चीज को गिन कर उसकी अवधारणा बनाई जा रही थी, लेकिन शून्य ऐसी अवधारणा है जो किन्हीं चीजों की गैर मौजूदगी को दर्शाती है। इसलिए इसे समझाना थोड़ा मुश्किल काम है। एक दूसरी तरह से देखें तो शून्य को लेते ही हम प्राकृतिक संख्याओं के दायरे से निकल कर पूर्ण संख्याओं के दायरे में आ जाते हैं। मौजूदा दस आधारी संख्या पद्धति में दस के दम वाली संख्याओं को शून्य के बिना अंकों में लिखा ही नहीं जा सकता। लेकिन अगर हम दस को अंकों में लिखना-पढ़ना सिखाने की शुरुआत शून्य के इस्तेमाल के साथ करेंगे तो पहले से ही पेचीदी अवधारणा और ज्यादा पेचीदी हो जाएगी। इस उलझन को सुलझाने के लिए एक रास्ता यह लिया जा सकता है कि शुरुआत में 10 को किसी अंक की तरह सिखा दिया जाए। बाद में जब 11 से लेकर 19 तक की संख्याओं को बनाने के नियम कायदे सिखा दिए जाएं तब उन्हीं नियम कायदों की मदद से 10 को बनाने बनाने के तरीके पर काम किया जाए क्योंकि 10 को अंकों में बनाने का नियम भी वही है जो बाकी संख्याओं को बनाने का नियम है।

जब बच्चे संख्याओं को बनाने के नियम कायदों को कुछ संख्याओं को गढ़ने में काम में लेना सीख जाएं तब 13, 12, 11 क्रम से बनवाते हुए 10 तक पहुंचने का काम किया जाए। इसमें असल में एक कम करने की अवधारणा के जरिए हम 10 तक पहुंच रहे हैं। वैसे भी शून्य की अवधारणा तक पहुंचने का तार्किक रास्ता भी यही है। चूंकि दस को लिखने में शून्य का भी इस्तेमाल होता है इसलिए उसी तरह से लिखित दस में शून्य की जरूरत को समझने तक पहुंचा जा सकता है।

अब तक आपको दस के दम की मदद से जगह की कीमत व शून्य की ताकत की मदद से संख्याओं को अंकों में गढ़ना या बनाना सिखाने के तरीके का भी थोड़ा बहुत अंदाज हो ही गया होगा। आप नीचे लिखे कदमों की मदद से सभी बच्चों को एक साथ गिनने में दस का दम पैदा करने के साथ-साथ उन्हीं संख्याओं को अंकों में गढ़ना या बनाना सिखा सकते हैं।

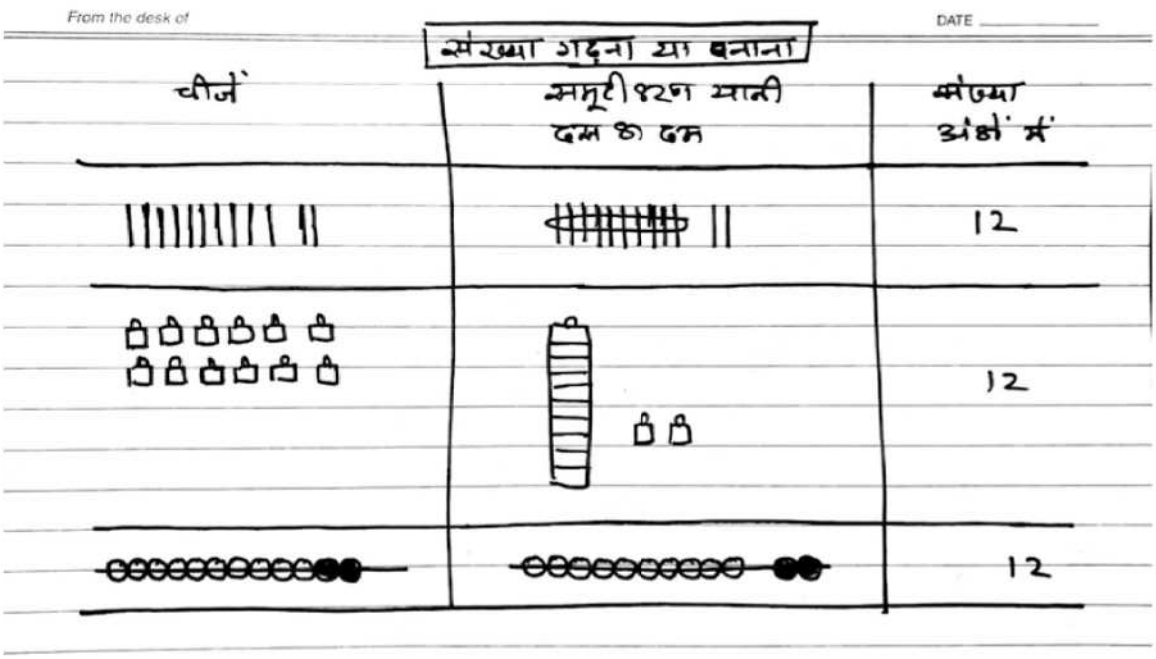


- तीली या गुटकों की मदद से कोई संख्या जैसे बारह बनवाना
- अपनी कापी या पाटी पर बारह तीली या गुटकों का चित्र बनवाना
- चीजों से बनी संख्या में दस का दम पैदा करना यानी बारह तीलियों या गुटकों में से दस तीली या गुटकों का खंभा बनवाना
- अपनी कापी या पाटी पर बारह में से दस तीली गिनवा कर उनका बंडल बनवाना या दस गुटकों का एक खंभा व दो गुटके खुले बनवाना
- दस के बंडल या गुटकों के खंभों की संख्या गिन कर लिखवाना व उसके पास खुली तीलियों या खुले गुटकों की संख्या
- दस के बंडल या दस के खंभे की संख्या गिनवा कर पहला अंक लिखवाना
- बची हुई खुली तीलियां या गुटके गिनवा कर पहले अंक के बाद/पास या दाएं दूसरा अंक लिखवाना
- चित्र में सारी तीलियों या गुटकों की संख्या को गिन कर पूरी संख्या को पढ़वाना
- इस तरह से क्रम से, बिना क्रम से तथा चीजें गिन कर व संख्या का नाम सुन कर संख्या को अंकों में बनवाने का काम करवाना

आपने गौर किया होगा कि बोर्ड या चार्ट में देख कर संख्याओं की नकल करवाने की तुलना में यह काम काफी लंबा है, इसमें ठोस चीजों से शुरू करके, चित्र बनाने व उसके बाद उसमें दस का दम पैदा करके, जगह की कीमत के मुताबिक संख्या को बनाने के नियम का इस्तेमाल किया जा रहा है। इसमें यह भी उम्मीद की जा रही है कि यह काम हर बच्चा करे। इस काम की शुरुआत में इस बात पर जोर दिया गया है कि यह काम सभी बच्चों को एक साथ सिखाया जाना चाहिए। यह तभी मुमकिन है जब इस काम को सिखाते वक्त सभी बच्चों के हाथों में पर्याप्त शिक्षण सामग्री हो, चाहे वो लड़का हो या लड़की, चाहे वह गरीब हो या अमीर, चाहे वह गांव या बस्ती में रहता हो या शहर में रहता हो। उपयुक्त सामग्री के साथ अगर सिखाने का सही तरीका इस्तेमाल किया जाए तो वह सीखने वालों के द्वारा हाथों से किए जा रहे काम के जरिए उनके दिमाग को सक्रिय रखने में काफी मददगार होती है। जब सीखने वालों के हाथ व दिमाग उपयुक्त संदर्भों और सौहार्दपूर्ण माहौल में सक्रिय हों तो उन्हें किसी भी चीज को सीखने से कौन रोक सकता है।

## रट कर संख्या पढ़ना बनाम संख्या बूझना

पारंपरिक तौर पर दस व उससे आगे की संख्याओं को पढ़ना सिखाने में संख्या में आए अंकों को पढ़ कर संख्या का नाम बुलवाया जाता है। कई जगह पर उसके साथ संख्याओं विस्तार भी दिया होता है, तो संख्या के विस्तार के साथ संख्या पढ़वा कर उसका नाम बुलवाया जाता है। जैसे, दस-दो बारह, या एक-दो ग्यारह। लिखे हुए 12 को दस-दो या दस और दो, बारह पढ़ने या एक पे दो बारह बोलने में मौजूद समस्याओं का जिक्र 'दस का दम (गिनने में)' वाले लेख में किया जा चुका है। उसे फिर से दोहरा सकते हैं कि लिखे हुए 12 में दस नहीं दिखता बल्कि दस के बंडल की संख्या लिखी दिखती है। इसी तरह एक पे दो, 12 में 1 व 2 के बीच के अर्थ का फर्क बोलते वक्त मिटा दिया जाता है। यानी यह छुपा लिया जाता है कि 1, सिर्फ 1 न होकर दस का 1 बंडल होता है।

असल में यहां चुनौती अंकों में लिखी संख्या का अर्थ बूझने का तरीका सिखाने की है। ताकि एक से ज्यादा अंकों की मदद से लिखी जाने वाली संख्या का अर्थ बूझा जा सके। अगर हम यह चाहते हैं कि बच्चे दो अंकीय संख्या को बूझना सीखें तो यहां पर सवाल यह उठता है कि किसी बच्चे को किसी भी दो अंकीय संख्या का अर्थ बूझने के लिए क्या क्या आना चाहिए?

उदाहरण के लिए बोर्ड पर 12 लिखा है और इसे शब्दों में 'बारह' बोलना रटवाया नहीं गया है तो कोई भी बच्चा इसे तभी बूझ सकता है जब उसे नीचे लिखी चीजें आती हों।

- गिनना (20 या 30 तक)
- गिनने में दस का दम पैदा करना व दस के दम से बनी संख्या को गिन पाना
- 9 तक की संख्याओं को अंकों में पढ़ना व लिखना व मात्रा से जोड़ कर उसका मतलब समझना
- दस का दम पैदा करके दो अंकीय संख्याओं को गढ़ना या बनाना व अंकों की मदद से लिखना

उपरोक्त पूर्व ज्ञान दो अंकीय संख्या को बूझने में बच्चों की मदद करेगा। दस के दम की मदद से दो अंकीय संख्याओं को गढ़ने या बनाने के पूर्व अनुभव की वजह से बोर्ड पर लिखा '12' देख कर बच्चों को धुंधला सा अहसास हो सकता है कि यह दस के दम से बनने वाली कोई संख्या हो सकती है। कुछ बच्चे इसे बूझने का तरीका खुद भी गढ़ सकते हैं। लेकिन सभी बच्चे इसे और ऐसी ही दूसरी दो अंकीय संख्याओं को बूझ पाएं, इसके लिए उन्हें ऐसे सवालों की लड़ी की जरूरत पड़ेगी, जो उनके पूर्व ज्ञान का इस्तेमाल करते हुए उन्हें इस संख्या के मतलब व नतीजे में इसके नाम तक पहुंचा दे। वह सवालों की लड़ी कुछ इस तरह से हो सकती है।

- बोर्ड पर लिखी संख्या में पहले क्या लिखा है?
- उसके पास/बाद या दाएं क्या लिखा है?
- संख्या में लिखे पहले अंक का मतलब क्या है?
- उसके पास/बाद या दाएं लिखे अंक का मतलब क्या है?
- दोनों को मिलाओ तो कितने हो जाते हैं?
- बोर्ड पर लिखी संख्या क्या है?

सवालों की इस लड़ी की खूबी यह है कि यह किसी खास संख्या जैसे, 12 का मतलब बूझने के बजाय किसी भी संख्या का मतलब बूझने का तरीका सिखाती है। इस बात को समझने के लिए नीचे दी गई सवालों की लड़ी को पढ़िए और दोनों में मौजूद फर्क का अंदाजा लगाइए।

- बोर्ड पर लिखी संख्या में पहले लिखे '1' का मतलब क्या है?

- उसके पास/बाद या दाएं लिखे '2' का मतलब क्या है?
- दोनों को मिलाओ तो कितने हो गए?
- बोर्ड पर लिखी संख्या क्या है?

सवालों की इस लड़ी में पिछली लड़ी की तुलना में कम सवाल हैं। बच्चों में मौजूद पूर्व ज्ञान के इस्तेमाल की जरूरत भी कम हो गई है। बच्चों को बोर्ड पर लिखी संख्या के अंकों को खुद नहीं पढ़ना है। अध्यापक उन्हें खुद पढ़ कर बता रहा है। सवालों की यह लड़ी किसी खास संख्या, यहां पर '12' पर केन्द्रित है। यह बात सही है कि अगर इस लड़ी की मदद से अध्यापक अलग-अलग संख्याएं लेकर बच्चों के साथ कई बार काम करे तो कुछ बच्चे जरूर इन सवालों को खुद ही सामान्यीकरण करके पहले वाली लड़ी तक पहुंच जाएंगे। लेकिन कई बच्चों को खुद इसका सामान्यीकरण करने में काफी वक्त लग सकता है। अब आप संख्या बूझने के लिए तीन रास्ते अपना सकते हैं।

- पहला, सिर्फ सवालों की पहली लड़ी को आजमाना
- दूसरा, सिर्फ सवालों की दूसरी लड़ी को आजमाना

तीसरा, सवालों की दूसरी लड़ी से शुरू करके बहुत जल्द ही सवालों की पहली लड़ी का इस्तेमाल करना, ताकि सभी बच्चे किसी खास संख्या को बूझना शुरू करके किसी भी दो अंकीय संख्या को बूझने की तरफ कदम बढ़ा पाएं।

इसके साथ-साथ ही अगर इस संख्या से जुड़ी सामग्री जैसे तीली, गुटकों या मोतीमाला के चित्र भी बनवाए जाएं तो बच्चों के लिए इसे बूझना और भी ज्यादा आसान हो जाएगा। दरअसल उन्हें संख्या बूझते वक्त संख्या गढ़ने से उलट काम करना होता है। इन कामों को मौखिक सवालों की लड़ी के साथ इस तरह पिरोया जा सकता है कि बच्चे हर सवाल का जवाब देने के साथ-साथ उससे जुड़ा चित्र बनाते जाएं।

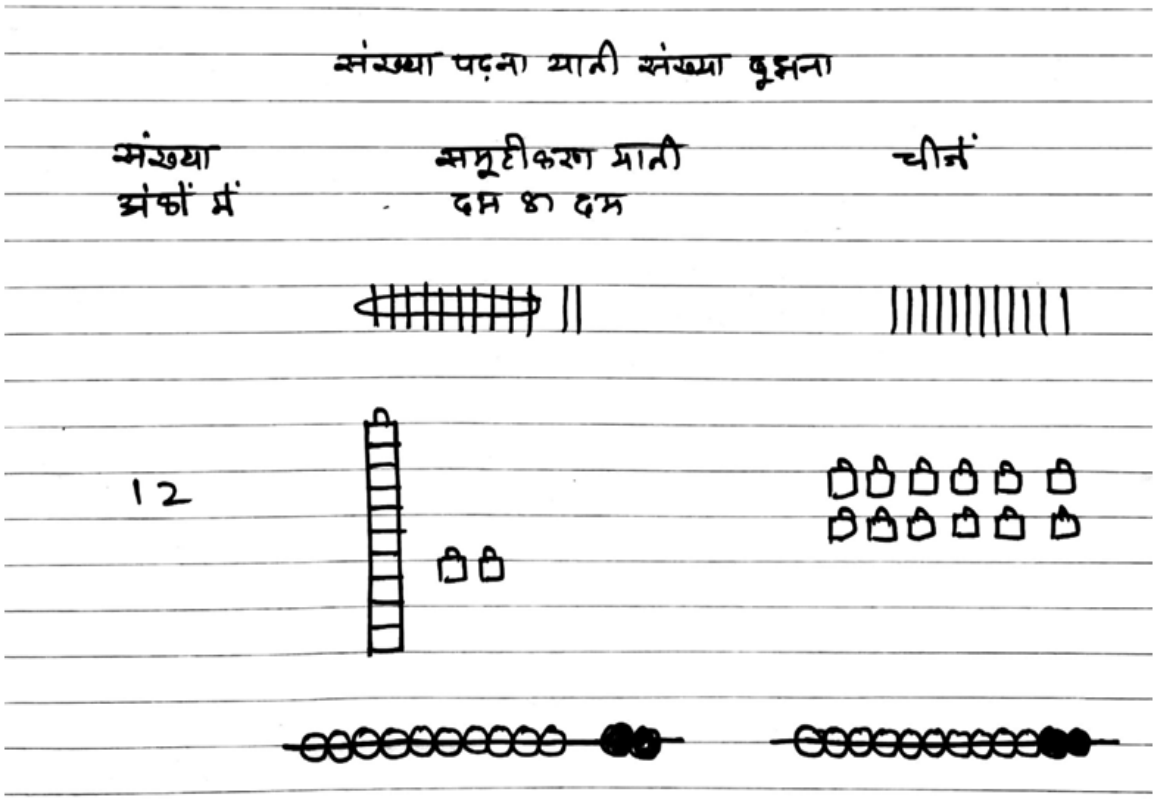

अब तक आपको इस बात का भी थोड़ा बहुत अंदाजा हो गया होगा कि क्यों संख्या पढ़ने यानी संख्या बूझने के काम को संख्या को अंकों में बना कर लिखने के काम के बाद लिया गया है। अगर बच्चों ने ठोस चीजों में, चित्रों में दस का दम पैदा करके संख्या को अंकों में गढ़ना या बनाना सीख रखा है तो उस अनुभव से बनी समझ के जरिए वे लिखित दो अंकीय संख्याओं को आसानी से बूझ सकते हैं। चीजों व चित्रों की मदद से संख्या को गढ़ते या बनाते वक्त बच्चे चीजों व चित्रों के सहारे से संख्या को गढ़ या बना सकते हैं। लेकिन संख्या बूझने में उन्हें पूरी तरह से अपने पूर्व अनुभव व पूर्व ज्ञान पर निर्भर रहना पड़ता है व अपने स्तर पर अच्छी-खासी गणितीय भाषा का इस्तेमाल करना पड़ता है। अगर उनके पास ठोस चीजों के साथ काम करने का पूर्व अनुभव न हो और उसकी मदद से संख्या को गढ़ने के तरीके का पूर्व ज्ञान न हो तो उनके लिए यह काम मुश्किल हो जाता है।

अगर हम बच्चों को दस से बीस की संख्याओं के बीच चीजों व चित्रों की मदद से संख्या को गढ़ या बना कर लिखना तथा लिखी हुई संख्याओं को पढ़ कर बूझने का तरीका सिखाने की मजबूत व लचीली बुनियाद रख दें तो उनके लिए किसी भी दो अंकीय संख्या को गढ़ना व बूझना बाएं हाथ के खेल की तरह हो जाएगा। और इसी बुनियाद पर वे आगे चल कर तीन व बहुअंकीय संख्याओं की बहुमंजिला इमारत को गढ़ भी पाएंगे और बूझ भी पाएंगे। ◆

**लेखक परिचय :** करीब 23 वर्षों से प्रारंभिक शिक्षा में शिक्षक शिक्षा, शिक्षण सामग्री एवं पाठ्यपुस्तक निर्माण, शिक्षाक्रम और अनुवाद के क्षेत्र में कार्य। हाल-फिलहाल विभिन्न संस्थाओं के साथ बतौर शैक्षिक सलाहकार कार्यरत हैं।

**संपर्क :** 9414057424; ravikaant@gmail.com

# मुख्य आवरण के चित्र के बारे में

प्राचीन यूनान के हेलेनिस्टिक काल में जिम्नास्टिक और हथियार चलाना सीखना स्कूली शिक्षा में आवश्यक माना जाता था। प्राचीन यूनानियों और रोमन लोगों के लिए शारीरिक शिक्षा का मूल्य ऐतिहासिक रूप से अद्वितीय रहा है। प्राचीन यूनान में शिक्षा के दो रूप थेः औपचारिक और अनौपचारिक। औपचारिक शिक्षा सार्वजनिक स्कूलों के माध्यम से प्रदान की जाती थी। अनौपचारिक शिक्षा अवैतनिक शिक्षकों द्वारा प्रदान की जाती थी। रोमनों ने भी यूनानी प्रणाली को अपनाया। हालांकि स्कूल मुफ्त नहीं था। अभिभावकों को शिक्षक को भुगतान करना होता था, इसलिए गरीब बच्चे स्कूल नहीं जा पाते थे। शिक्षक पढ़ना-लिखना, गणित और ग्रीक साहित्य पढ़ाते थे।

मुख्य आवरण के इस चित्र में ऊपर वाला हिस्सा ग्रीक स्कूल का है जो एक बर्तन पर चित्रित है। नीचे के चित्र में रोमन स्कूल का उत्कीर्णित चित्र है। ◆

# भाषा और मानकीकरण

## वीरेन डंगवाल के साथ फ़ैयाज़ अहमद की बातचीत

*आज हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि वीरेन डंगवाल हमारे बीच नहीं हैं। मगर भाषा शिक्षण को लेकर बतौर लेखक, बुद्धिजीवी उनका नज़रिया क्या था इसे जानने के लिए फ़ैयाज़ अहमद ने उनके साथ यह बातचीत की थी। पाठ्यपुस्तक की भाषा कैसी होनी चाहिए, क्या बच्चों की भाषा शुरुआती कक्षाओं में ही शुद्ध कर देनी चाहिए, भाषा सीखने का दायरा स्कूल तक ही सीमित है या उससे ज्यादा व्यापक है। इन सभी सवालों पर प्रस्तुत है यह बातचीत।*

**फ़ैयाज़ :** पाठ्यपुस्तकों के संदर्भ में बात करें, तो भाषा के मानकीकरण का क्या अर्थ है?

**वीरेन डंगवाल :** मैं नहीं समझता कि प्राथमिक स्तर पर बच्चों को कोई एक मानक भाषा बतला दी जानी चाहिए। क्षेत्रीय और वर्गीय असर ये दोनों ही भाषा का निर्धारण करने वाले बहुत ही महत्वपूर्ण कारक हैं। उनको ध्यान में रख कर ही उस स्तर पर बच्चों की शिक्षा का कोई काम किया जा सकता है।

**फ़ैयाज़ :** पाठ्यपुस्तक तैयार करते समय क्या किसी पॉलिसी या कोई दिशा निर्देश की ज़रूरत है? खासकर प्राथमिक पाठ्यपुस्तक तैयार करते समय?

**वीरेन डंगवाल :** पाठ्यपुस्तक तैयार करने का काम सरकार या सरकार द्वारा चयनित समिति का है। वो समिति अपने अनुरूप तय करेगी और निर्णय लेगी कि पाठ्यपुस्तक कैसी हो, उसकी विषय-वस्तु क्या हो और उसमें कैसी भाषा का इस्तेमाल हो। यहां भी वही चीज़ें, वही तत्व, कारक का काम करेंगे। जैसे कि क्या नज़रिया है, और कौन लोग उसको तय करने वाले हैं। नीति की ज़रूरत या दरकार होती है पर वो उसी नज़रिये से तय होती है। ज़ाहिर है कि सरकार का भी एक नज़रिया होता है और वो भी समिति के लिहाज़ से ही तय करती है।

**फ़ैयाज़ :** सन् 1986 में शिक्षा नीति लागू हुई। उसमें भी सरकार की तरफ से दिशा निर्देश दिए गये। उसके बाद साल 2005 में एनसीएफ बना। उसके आधार पर देखा जाए तो किस तरह की भाषा होनी चाहिए, पाठ्यपुस्तक में आप किस परिवेश को, किस संदर्भ को जोड़ना चाहेंगे? उसमें इन सबका जिक्र किया गया है। लेकिन हम ये देखते हैं कि पाठ्यपुस्तक में, अगर हिन्दी राज्यों की बात करें तो राजस्थान, बिहार, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़, उत्तर प्रदेश यानी पूरी जो हिन्दी पट्टी है, उसमें भाषा के स्तर पर काफी अलग-अलग भाषाएं देखने को मिलती हैं। मध्यप्रदेश की जो हिन्दी है, उत्तर प्रदेश की हिन्दी उससे अलग है।

**वीरेन डंगवाल :** साल 1986 की जो नई शिक्षा नीति थी उसको लेकर देश भर में काफी बहस छिड़ी थी। उस समय लोग ये महसूस कर रहे थे कि कहीं ये नीति शिक्षा के स्तरों का विभाजन बढ़ाने वाली तो नहीं है। एक तरह से ऐसा थोड़ा बहुत हुआ भी। उस समय भूमंडलीकरण की जो नीति तैयार हो रही थी उससे और व्यवसायिक शिक्षा का जो ताना बाना इस समय पूरा फैल गया है उससे, व्यापक पैमाने पर शिक्षा का

व्यवसायीकरण हुआ है। हालांकि उसके क्या असर हुए और उसने शिक्षा का क्या हाल किया है ये तो एक अलग और अहम बहस है। फिलहाल इसमें हम नहीं जा सकते। लेकिन उसने भाषाओं को और इसकी एकात्मकता को बहुत पीछे छोड़ दिया। यानी उस शिक्षा नीति ने भाषा की शिक्षा के व्यवसायीकरण की जो प्रक्रिया थी, उसको तेज किया। आप जिसे हिन्दी पट्टी कह रहे हैं क्या आप वहां कोई एक भाषा का इस्तेमाल कर सकते हैं? क्या झारखंड के बच्चे और राजस्थान के बच्चे पर प्राथमिक स्तर पर एक ही भाषा थोपना बच्चे की संवेदना के साथ अन्याय नहीं? मेरे ख्याल से ऐसा नहीं हो सकता है। क्षेत्रीय भिन्नताओं को ध्यान में रखा जाना चाहिए। इसके अलावा उनके बीच जो आर्थिक वर्गीकरण हैं, भिन्नताएं हैं वे भी कहीं न कहीं भाषा के इस तथाकथित मानकीकरण के विरोध में खड़ी हो सकती हैं।

**फ़ैयाज़ :** हां, एनसीएफ ने कहा है कि जब आप भाषा या पाठ्यपुस्तक का निर्माण करेंगे, उसमें स्थानीयता को प्रमुखता मिलनी चाहिए। जब स्थानीयता की बात आती है तो ज़ाहिर है कि झारखण्ड की जो स्थानीय भाषा, बोली है, वह राजस्थान से अलग होगी और राजस्थान की बिहार से अलग होगी।

**वीरेन डंगवाल :** हां, भिन्नताएं भी होनी ही चाहिए। इसके अलावा जहां तक वर्गीय भिन्नता की बात है, तो मैं जहां से आता हूं, रोहिल खण्ड से, वहां गलियों में खेलने वाले बच्चे लड़कों को, अरे लौण्डे, बोलते हैं। मेरा पोता सालवान स्कूल में केजी कक्षा में पढ़ता है। मैंने जब उससे कहा, अरे लौण्डे, तो उसे ये शब्द बड़ा रोचक लगा। वो उसको दोहराने लगा। अब उसके मां-बाप और रिश्तेदार कहते हैं कि आप इसे क्या सिखा देते हैं। वे बुरा मान कर नहीं बोलते, बल्कि मुझे आगाह करते हैं कि आप जो बोलते हैं, ये पकड़ लेता है। क्योंकि वो शब्द फोनेटिक है। मतलब ध्वन्यात्मक है। बच्चों की बोली-भाषा में ध्वन्यात्मकता तो होनी चाहिए।

**फ़ैयाज़ :** अभी कुछ दिनों पहले भी गुजरात की एक पाठ्यपुस्तक में छोकरा-छोकरी शब्द का इस्तेमाल किया गया था। काफी बहस हुई। उन सबको हटा देना पड़ा।

**वीरेन डंगवाल :** हां, मैं जिस वर्गीय भिन्नता की बात कह रहा हूं वो यही है। ये एक बड़ी समस्या है। छोकरा-छोकरी वाली तो आपने बड़ी दिलचस्प जानकारी दी। 'अरे छोकरे!' ऐसा वे आपस में ही बोलते हैं? 'अरे छोरी! ओ छोरे! ओ छोरी!' ऐसे आवाज लगाते हैं। हमारे यहां पहाड़ में छोरा-छोरी कहते हैं। वहां छोरा उन्हें कहते हैं जो थोड़े लावारिस किस्म के बच्चे होते हैं जिनके मां-बाप नहीं होते हैं या जो थोड़े अनाथ टाइप के होते हैं। फिर मां जब बेटियों को लाड़ से बुलाती हैं तो ज़्यादा लाड़ में कहती हैं, अरे छोरी, ऐ छोरी, इधर आ। ये गाली नहीं होती। हमारी दादी जब हमें बहुत प्यार करने की कोशिश करती थी तो गालियां बकती थी। तो ये जो सांस्कृतिक खाई है वह बड़ी विचित्रताएं पैदा कर देती है।

**फ़ैयाज़ :** जी! लेकिन यहां हम जिन शब्दों का उदाहरण ले रहे हैं वो एक बोली, एक मौखिक भाषा है। जब लिखने या पढ़ने की बात आती है तो उसका किस स्तर पर मानकीकरण किया जाए। और उसकी क्या प्रक्रिया हो?

**वीरेन डंगवाल :** मेरे खयाल से माध्यमिक स्तर पर उस प्रक्रिया को तवज्जो दी जा सकती है। मानकीकरण की ओर क्रमशः जाने की शुरुआत कर सकते हैं। इस तरह की भाषा की शुरुआत आप आठवीं, सातवीं कक्षा में कर सकते हैं। आप ये बता सकते हैं कि ये हमारी बोलियां हैं, इन बोलियों से हम चलते हैं। इन बोलियों के साथ से, इनके समुच्चय से हमारी भाषा बनी है। इस भाषा में, एक रूप मानकीकृत तरीके से हो सकता है। लेकिन ये उनकी बोलियों की कीमत पर नहीं होना चाहिए।

**फ़ैयाज़ :** फिलहाल एक सवाल ये भी है कि बोली भाषा की अपनी एक संरचना होती है और लिखित भाषा की एक अपनी अलग। ये एक-दूसरे से भिन्न भी हैं और इनमें असमानताएं भी हैं। इन असमानताओं को कैसे दूर किया जाना चाहिए।

**वीरेन डंगवाल :** देखिए, जो बोली वाली भाषा है वो अनौपचारिक है। मानकीकरण एक औपचारिकता है। उसमें एक उच्चतर सामाजिकता है। जबकि बोली में एक अनौपचारिकता है और उसके पीछे काम चलाने का और बेहतर तरीके

से काम चलाने का भाव होता है। शिक्षा के स्तर पर बोली भाषा को एक मानक भाषा के तौर पर हम जितनी दूर तक ले जाएंगे वो उतनी ही ज्यादा असरकारक हो सकती है। क्योंकि यह उसकी प्रभावोत्पादकता को, भाषा की समझाने की क्षमता को बढ़ाने का काम कर सकती है। जाहिर है कि यहां हम ये कह रहे हैं कि हम उसको थोड़ा उन्नत स्तर पर ले जाने का काम करेंगे। लेकिन उसको जितना आगे ले जाया जा सके उतना बेहतर है।

**फ़ैयाज़ :** वैसे तो उस दिशा में अभी कुछ आगे बढ़े हैं, लेकिन बाल साहित्य की बात करें, तो पंचतंत्र, कथा सरित्सागर, हितोपदेश की कथाओं को छोड़ दें तो हिन्दी में बहुत कम लिखा गया है। क्या ये कहा जाए कि इसकी वजह ये है कि बाल साहित्य को इतनी गंभीरता से नहीं लिया गया?

**वीरेन डंगवाल :** बाल साहित्य को बिल्कुल गंभीरता से नहीं लिया गया है। हमारे यहां तो बच्चों को ही गंभीरता से लेने की आदत नहीं है। हिन्दी भाषी इलाके में तो ये एक चलन रहा है। मेरे खयाल से बांग्ला में ये समस्या नहीं है। सुकुमार राय ने तो हजबाला लिखा। सत्यजीत राय जैसे बड़े लेखक ने काफी लिखा। वहां अभी भी निरंतर काम हो रहा है। इसके अलावा तेलुगु या मराठी सहित दूसरी भाषाओं में भी समस्या नहीं है। बस हिन्दी में, हिन्दी के इलाकों में ये समस्या अधिक है।

**फ़ैयाज़ :** माना जाता है कि यदि बच्चों के लिए लिखेंगे तो आम और आसान वाक्यों में लिखेंगे और कुछ लोग कहते हैं कि आसान लिखना आसान नहीं। तो क्या लोग लिखने से भागते हैं?

**वीरेन डंगवाल :** हिन्दी में इस बात पर कड़वी बहस चल रही है। कविता में सरलता को काव्यात्मक दुर्गुण की नजर से देखा जा रहा है और जटिलता को काव्य मूल्य बनाने की कोशिश हो रही है। लेकिन जाटिलता या सरलता रचना के मूल्य नहीं हो सकते।

**फ़ैयाज़ :** हम अक्सर कहते हैं कि ये बात बच्चों के सामने नहीं कहनी चाहिए या बच्चों को ये शब्द नहीं सुनाना चाहिए। ये पाठ एक विशेष आयु के बच्चे के लिए उचित है या अनुपयुक्त है, ये कैसे तय किया जा सकता है। या इसकी प्रक्रिया क्या हो सकती है?

**वीरेन डंगवाल :** हां, ये तो वाकई में एक बड़ी परेशानी है। मैं तो अपने घर में ही इस समस्या को देख रहा हूं। दो बजे वो बच्चा स्कूल से आएगा। और चूंकि मैं उससे काफी ऊटपटांग गप्प मारता हूं तो वो मुझसे काफी प्रसन्न रहता है। हम लोग बातचीत के क्रम में खूब लम्बे-लम्बे और निरर्थक वाक्य भी बोलते हैं। हमारे बीच बहुत देर तक संवाद चलता है। वो उन निरर्थक बातों से बहुत प्रसन्न रहता है। वो सिर्फ आवाजे हैं जो वो बोलता है। और मैं उन्हीं आवाजों में जवाब देने की कोशिश करता हूं। लेकिन लोग हमारी बातचीत को दूर से तमाशे की तरह देखते हैं। और ये समझते हैं कि ये पागलपन है। इसी तरह जैसे मैंने लौण्डे शब्द का इस्तेमाल किया और वो उसने पकड़ लिया। अब ये तय कैसे हो कि कौन से शब्द बच्चों के लिए इस्तेमाल होने चाहिए और कौन से नहीं होने चाहिए। समाजीकरण करने की प्रक्रिया को बच्चों पर किस उम्र से लादना शुरू करें और ये तय कैसे करें? ये कैसे हो नीशिमा आप बताइये न। आप मां हैं।

**नीशिमा :** जो शब्द हमें ही सुनने में अच्छे नहीं लगते उसे हम बच्चों को कैसे सिखा सकते हैं।

**वीरेन डंगवाल :** भई ऐसा है कि जब मेरा बेटा छोटा था तो मैं ये कहता था कि इसे मेहरियों के लड़कों के साथ खेलने जाने दो। मैं कोशिश करता था कि वो उनके साथ पतंग उड़ाये, जितना संभव हो आवारागर्दी करे। मैंने पांचवी, छठी, सातवीं तक इस बात की खूब छूट दी।

**फ़ैयाज़ :** आपका जो पूरा लेखन है, उसकी भाषा में, आपकी कविताओं में अक्सर असामान्य शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है। जैसे अभी हम ऊटपटांग शब्दों के इस्तेमाल की बात कर रहे थे, जिसे हम निरर्थक कहते हैं, शायद वो निरर्थक नहीं होते।

**वीरेन डंगवाल :** नहीं होते। कोई भी शब्द निरर्थक कैसे हो सकता है?

**फ़ैयाज़ :** आपकी कविताओं के जो विषय हैं उन्हें भी कुछ हद तक असामान्य कहा जा सकता है। ये कहा जा सकता है कि ''एक खास तरह की कविताएं लिखी जा रही हैं'' तो इसके क्या अर्थ है? आप कविताओं में जिन शब्दों का इस्तेमाल करते हैं, या जो विषय लेते हैं उनका क्या संदर्भ है?

**वीरेन डंगवाल :** उनमें कुलीनता द्रोह हो सकता है जो हमारे भीतर बहुत गहरे मौजूद है। ये एक अन्तर्विरोध भी हो सकता है। क्योंकि आप एक ऐसी दुनिया में रह रहे हैं जो एक सतत नाटक है। जिसके उच्चारण, बोलचाल, हाव-भाव सब कुछ में नाटक है और वो बाध्यता भी है। और दूसरी ओर एक खुली हुई, वृहत्तर दुनिया है- पतंगबाजों की, जामा मस्जिद की, सीता-राम की, या दफ़्तरों की, चपरासियों, नौकरों की, रिक्शा चलाने वालों की, और बाबुओं, अफसरों की भी। इस वृहत्तर समाज और समुदाय में सब जगह भाषा का इस्तेमाल हो रहा है। हम सिर्फ एक भाषा के ठेकेदार थोड़े ही हैं। अगर हम भाषा के लेखक हैं तो सबकी भाषा हमारी भाषा है और सबको ये आना चाहिए। मेरा मानना है कि जो जिन्दगी की भाषा है वो कविता की भाषा होनी चाहिए।

**फ़ैयाज़ :** यदि हम मानते हैं कि सबकी भाषा है तो इसका मॉडल कौनसा है ये कैसे तय करें। क्या किसी विशेष मॉडल को हम मानकीकरण मानें?

**वीरेन डंगवाल :** मानकीकरण एक सांस्कृतिक अनुशासन है। वो समाज में संस्कृति के द्वारा किया जाने वाला नियंत्रण है। समाज पर जिसका कब्जा है उसी की भाषा है।

**फ़ैयाज़ :** मैं यही कह रहा था कि हमारे समाज की भाषा है। समाज में रिक्शावालों की भी भाषा है, सब्जी बेचने वालों की भी और जो कपड़े धोते हैं उनकी भी भाषा है। अगर हम लेखक की बात करें, विशेष तौर पर हिन्दी के लेखक की तो रहीम, कबीर, प्रेमचंद, अज्ञेय, सोबती सबकी अपनी एक भाषा है। तो अगर हम किसी एक भाषा को मानक या मॉडल मानते हैं तो बाकी दूसरी भाषाओं को या दूसरे लेखक को कहां रखेंगे?

**वीरेन डंगवाल :** नजीर को इतने अरसे तक कहां रखा गया? उनको हिन्दी या उर्दू का शायर माना ही नहीं गया, या कहें कि इस बात पर भी विवाद था कि वे शायर हैं भी कि नहीं। तो ये सांस्कृतिक नियंत्रण का ही सवाल है। जयशंकर प्रसाद की भाषा ही मानक भाषा है और उसी जमाने में लिखी हुई प्रेमचंद की भाषा नहीं है। जबकि दोनों भाषाएं बिल्कुल बहन-बहन हैं। तो ये संभव नहीं हो सकता है एक ही युग, समय और समाज में अलग-अलग स्तरों पर भाषा के अलग-अलग रूप व्यवहार में लाए जा रहे हो। हां, आप ये काम जरूर कर सकते हो कि उनका एक मिश्रण तैयार करो उस स्तर पर, जहां पर आप मानकीकरण को प्रारंभ करते हो। जो हमारी निगाह में माध्यमिक स्तर का है।

**फ़ैयाज़ :** अगर हम किसी भी स्तर पर मानकीकरण की शुरुआत करेंगे तो कोई एक पैमाने तो बनाएंगे। चाहे वो प्रेमचंद हों, फनीश्वर नाथ रेणु हों, जायसी हों, तुलसीदास हों। अगर हम एक पैमाने को स्वीकार कर रहे हैं तो जो दूसरे लेखक की, दूसरे समाज की, दूसरे स्थान की भाषा है या लेखन है उसे अस्वीकार किया जाएगा। ये कहां तक उचित है?

**वीरेन डंगवाल :** क्या ऐसा होगा कि वो अस्वीकृत की जाएगी? क्या अब तक ये समस्या आई थी हिन्दी में? जिस जमाने में प्रेमचंद मानक बने थे क्या उस जमाने में प्रसाद का पढ़ा जाना कम हुआ या बंद हुआ? या जब उनके बाद रेणु आए तो उनकी स्वीकार्यता पर इसका कोई असर पड़ा था? श्री लाल शुक्ल ने बाद में लगभग प्रेमचंद वाली भाषा का इस्तेमाल करते हुए अपना उपन्यास 'राग दरबारी' लिखा। कोई समस्या आई क्या? मेरे ख्याल से तो नहीं आई। क्योंकि अगर आप मानकीकरण को संस्कृतिकरण से बहुत ज्यादा नहीं जोड़ रहे हैं, संस्कृतिकरण से मेरा मतलब केवल संस्कृत से नहीं बल्कि संस्कृति से भी है, तो उससे कोई समस्या नहीं आती है। आप यदि उसका ब्राह्मणवादीकरण नहीं करेंगे तो कोई दिक्कत नहीं आएगी। हिन्दी का इलाका काफी बड़ा और लोकतांत्रिक है। उस पर तो सबकी छाप पड़ेगी।

**फ़ैयाज़ :** राजनीतिक स्तर पर हो, माध्यमिक या हाईस्कूल स्तर पर, हिन्दी में कविताओं को पढ़ाने की जो परंपरा रही है वो बहुत ही अलग है। क्या वजह है कि हिन्दी में हर पाठ्यपुस्तक में, पाठों में कविता होती है। पर उन कविताओं को इतनी गंभीरता से नहीं लिया जाता है।

**वीरेन डंगवाल :** हां, गंभीरता से नहीं लिया जाता है। मुझे लगता है ये प्रवृत्ति नई शिक्षा नीति के साथ विकसित हुई है। हम लोगों ने जब बचपन में कविताएं पढ़ीं तो अध्यापकों ने बहुत ही मजे से पढ़ाया। हमें भी कविता में बड़ी दिलचस्पी होती थी। मैंने आपको सिपाही का उदाहरण दिया जो काफी तल्लीनता से गा रहा था। मुझे बहुत मजा आया और लगा कि कितना सासूम है ये आदमी जिसने अपने पास छेद वाली बंदूक रखी हुई है। कविता पढ़ाने की तो समस्या अब हो रही होगी। पिछले साल मैं एनसीईआरटी की एक वर्कशॉप में गया था। वहां कई अध्यापक आए हुए थे। मुझे लगा कि समस्या जितनी अध्यापकों के साथ है उतनी कविताओं के साथ नहीं है। इत्तेफाक से दसवीं या नौवें में मेरी भी एक कविता है। इसीलिए मुझे भी बुलाया गया था। और मैंने देखा कि जो युवा अध्यापक हैं, जो थोड़ा-सा पढ़ने लिखने में दिलचस्पी रखने वाले हैं, वो तो सभी कविताओं को लेकर उत्साह में थे। लेकिन जो थोड़े जड़मति हिंदी वाले थे उन्हें कोई उत्साह नहीं था। हिन्दी भी तो एक ब्राण्ड हो गई है। उन्होंने अपना दिमाग बंद करके रखा है।

**फ़ैयाज़ :** कविता को कक्षा में पढ़ाते वक्त किन चीजों का ध्यान रखें?

**वीरेन डंगवाल :** कविता में यदि कोई नाट्य तत्व या कोई संवेदना का तत्व है उनको उभारने का काम अध्यापकों का है। पाठ तो बच्चों के लिए सबसे जरूरी चीज है। बच्चों को पढ़ाने, समझाने का तरीका बेहद मायने रखता है। वो तरीका मात्रा के लिये बहुत जरूरी है।

**फ़ैयाज़ :** किसी कविता का पाठ करना हो तो किन-किन बातों को ध्यान में रखना होगा?

**वीरेन डंगवाल :** दुश्चक्र में सृष्टा।

**फ़ैयाज़ :** हां, इसका पाठ करके हमें बताएं।

**वीरेन डंगवाल :** अरे, अरे ये तो बहुत चक्कर है। अभी? इसी वक्त?

**फ़ैयाज़ :** अभी

**वीरेन डंगवाल :** मैं अभी सुनाता हूँ।

*'यह कौन नहीं चाहेगा, उसको मिले प्यार?*
*यह कौन नहीं चाहेगा, भोजन वस्त्र मिले?*
*यह कौन न सोचेगा, हो छत सर के ऊपर*
*बीमार पड़े तो हो इलाज थोड़ा ढंग से,*
*बेटे-बेटी को मिले ठिकाना दुनिया में*
*कुछ इज्जत हो कुछ मान बढ़े,*
*फल फूल जायें,*
*गाड़ी में बैठने को जगह मिले, डर भी न लगे।*
*यदि दफ्तर में भी जायें किसी, तो न घबरायें।*
*अनजानों से घुलें मिलें भी, मन में न पछतायें।*
*कुछ चिंताएं भी हों, हां कोई हर्ज नहीं,*
*पर ऐसी नहीं कि मन उनमें ही जले-भुने।*

*हौसला दिलाने और बरजने आस-पास हों अपने साथी।*

*हों संगी-साथी अपने प्यारे खूब घने*

*पापड़, चटनी, आंचा-पांचा, हल्ला-गुल्ला,*

*दो, चार जशन भी कभी, कभी कुछ धूम-धाँय।*

*जितना संभव हो देख सकें इस धरती को,*

*हो सके जहां तक उतनी दुनिया घूम आयें,*

*ये कौन नहीं चाहेगा?*

*पर यह हमने कैसा समाज रच डाला है?*

*इसमें जो दमक रहा शर्तिया काला है,*

*वह कत्ल हो रहा सरेआम चौराहे पर,*

*निर्दोष और सज्जन जो भोला-भाला है*

*किसने आखिर ऐसा समाज रच डला है?*

*जिसमें बस वही दमकता है जो काला है।'*

**फ़ैयाज़ :** बरजना, हब, आंचा-पांचा, हल्ला-गुल्ला, जशन जैसे शब्दों को आपने इस्तेमाल किया है। तो अगर, आप मानक भाषा का इस्तेमाल करते तो ऐसे शब्द नहीं इस्तेमाल करते।

**वीरेन डंगवाल :** मेरे ख्याल से तब इतनी अच्छी तरह से कम्युनिकेट नहीं कर पाता। इलाहाबाद में आंचा-पांचा शब्द का इस्तेमाल होता है, गली मोहल्ले में भी कहते हैं, आंचा-पांचा न करो। वो कई अर्थों में इस्तेमाल होता है कि बड़ा आंचा-पांचा हो गया, आदि। वो एक निरर्थक शब्द है जिसके कई अर्थ होते हैं। हमें उससे कोई परेशानी नहीं है। और मैं ये समझता हूं कि उसको समझने वाले उसको खूब पसंद करते हैं। मतलब जो बहुत ही शाहिस्ता मिजाज लोग हैं जैसे हमारे भाई अपूर्वानन्द ही हैं, वे कविता में शायद इस भाषा को स्वीकार नहीं करेंगे। लेकिन इस कविता पर तो आज तक आपत्ति नहीं जताई या अशोक वाजपेयी जी हैं जो कुलीन भाषा के कवि हैं या दोस्त मंगलेश हैं, जो खुद एक अच्छे कवि हैं, वे खुद ऐसी भाषा का इस्तेमाल नहीं करेंगे लेकिन वे इस भाषा को पसंद करते हैं। कुछ लोग इस्तेमाल नहीं करते हैं इस भाषा को पर काफी पसंद करते हैं।

**फ़ैयाज़ :** हिन्दुस्तानी शब्द गांधीजी ने दिया था। जो दरअसल उर्दू मिश्रित भाषा है। लेकिन हिन्दुस्तानी कोई भाषा नहीं हैं, तो क्या उसे भाषा कहना उचित है?

**वीरेन डंगवाल :** मुझे कोई ऐतराज नहीं है। मैं हिन्दुस्तानी संगीत कहता हूं, कर्नाटक संगीत कहता हूं। परसों मैं अवध में था, फैजाबाद में। वहां मुझे ये खयाल आया कि ये गंगो-जमन तहजीब है, अवध का जो दिल है फैजाबाद में वह लखनऊ से भी ज्यादा बड़ा दिल है। संगीत, हिन्दू, मुसलमान, उनकी तहजीब ये सब अवध में हिन्दुस्तानी तहजीब है। मुझे तो इसमें कोई बुराई नजर नहीं आती। हांलाकि कुछ विचारकों को इस पर ऐतराज है। मैं नहीं जानता कि इसको लेकर क्या बहस चल रही है, पर मुझे इस भाषा या लज में कोई परेशानी नहीं है। ◆

**परिचय :** जेएनयू, दिल्ली से पीएचडी। दो दशकों से थियेटर से जुड़ें हैं व गैर-सरकारी संस्था प्रथम के साथ काम करते हैं।

**संपर्क :** faiyaz@pratham.org

# बच्चे : कठपुतली या कर्ता

ऋषभ कुमार मिश्र

कुछ दिनों से अखबारों और टी.वी. चौनलों में बच्चों को पर्यावरण संरक्षण के लिए सक्रिय प्रदर्शन करते और सड़क पर उतरते दिखाया जा रहा है। हर खबर में स्वीडीश छात्रा ग्रेटा थनबर्ग का नाम आता है और बताया जाता है कि इस किशोरी ने जलवायु परिवर्तन के लिए 'वैश्विक आंदोलन' छेड़ रखा है। इसे 'फ्राइडे फॉर फ्यूचर' आंदोलन का नाम दिया गया है। दुनिया के हर हिस्से के स्कूल और बच्चे इस आंदोलन से जुड़ रहे हैं। भारत के महानगरों से लेकर कस्बाई इलाकों में इस आंदोलन की धूम मच गई है। ऐसी खबरें और प्रदर्शन पढ़ने और देखने में अच्छे लगते हैं। समुदाय को भी संतोष होता है कि 'स्कूल कुछ कर रहा है', उनके बच्चों में भविष्य को लेकर चिंता है। लेकिन इनके बारे में थोड़ा ठहर कर और संभल कर विचार करने की जरूरत है। क्या ऐसे प्रयोजनों में बच्चों की सहभागिता 'बच्चों के बारे में वयस्क द्वारा लिया निर्णय' है या वास्तव में बच्चे खुद विचार कर अपनी सहमति देते हैं? ऐसे एक्टिविज्म के क्या निहितार्थ हैं? इन आंदोलनों की तैयारी और योजना का अंतिम और वृहद लक्ष्य क्या है? प्रदर्शन में भागीदारी के उपरान्त बच्चे और शिक्षक के सामान्य ज्ञान के अलावा अभिवृत्तिगत और व्यवहारगत बदलाव की संभावनाएं क्या हैं? प्रसिद्ध शिक्षाविद रोहित धनकर ने भी अपने ब्लॉग[1] में ग्रेटा थनबर्ग के आंदोलन के बारे में यही सवाल उठाए हैं। इनकी भी यही चिंता है कि कहीं बच्चों की इस तरह की सामाजिक प्रस्तुति उन्हें प्रदर्शन का हथियार बनाना तो नहीं है? ऐसे कई प्रदर्शनों में शामिल बच्चों से बात करने पर उत्तर में 'हां', नहीं और मौन के अलावा रटे-रटाये जुमले जैसे प्रदूषण रोको, वृक्ष लगाओ, पॉलीथीन का प्रयोग बंद करो सुनने को मिले। बच्चों ने कहा कि वे अध्यापकों के कहने पर आए हैं। अध्यापकों ने कहा के वे स्कूल प्रशासन के कहने पर आए। कुल मिलाकर विचार के स्थान पर कहने और मानने का ही चलन था। ऐसी दशा में आंदोलन या प्रदर्शन केवल विद्यालय की 'को-करीकुलर' (?) गतिविधि का हिस्सा मात्र है जहां बच्चों का उपयोग किया जा रहा है जिसमें उनकी स्वीकृति की सत्ता का उपयोग विद्यालय या शिक्षक कर रहा है। वे तो प्रयोगशाला की भेड़ों की तरह बस कहे को मान रहे हैं।

यद्यपि जिस मुद्दे को लेकर यह आंदोलन हो रहा है वह प्रासंगिक है लेकिन बच्चों की भागीदारी के तरीके और निहितार्थ पर सोचने की जरूरत है। आइए बच्चों की सहमति, सक्रियता और सकारात्मक हस्तक्षेप का एक भिन्न उदाहरण देखते हैं। इस वैश्विक आंदोलन से सेवाग्राम के आनंद निकेतन स्कूल के शिक्षक और बच्चे भी परिचित हुए। यह स्कूल गांधी की नई तालीम के सिद्धान्तों पर संचालित है। इन्होंने तय किया कि इस वैश्विक आंदोलन के स्थानीय संस्करण में आनंद निकेतन शामिल होगा। यह निर्णय केवल आंदोलन की सूचना की उपलब्धता स्वरूप प्रतिक्रिया नहीं थी। यह स्कूल पहले से ही स्थानीय पारिस्थितिकी के पर्यावरणीय-सामाजिक -आर्थिक सरोकारों से जुड़ा हुआ है। स्कूल के शिक्षकों और बच्चों ने गत वर्ष ग्रामोद्योगों के उद्धार, स्कूल

1. https://rohitdhankar.com/2019/09/24/should-children-be-used-without-their-informed-agreement/

परिसर में वॉटर हार्वेस्टिंग इत्यादि के लिए प्रयास किया था। स्कूल ने निर्णय लिया कि यदि इस आंदोलन के अगुआ बच्चे हैं तो उन्हें खुद समर्थ बनाने और अपने दृष्टिकोण को विकसित करने व संप्रेषित करने का कार्य करना होगा न कि केवल थोथा प्रदर्शन करने का कार्य। इसलिए बच्चों और शिक्षकों ने पूरे मामले के वैश्विक और स्थानीय परिदृश्य को समझा। बच्चों और शिक्षकों की आम सभा में निर्णय हुआ कि इसके लिए प्रदर्शन किया जा सकता है लेकिन प्रदर्शन में उन्हीं कक्षाओं के बच्चे शामिल हों जो विषय, उसके स्थानीय संदर्भ और प्रदर्शन के औचित्य व तरीके को समझते हैं। यह तय किया गया कि प्रदर्शन में तख्तियों को दिखाने और नारा लगाने के लोकप्रिय रास्तों से बचा जाए। इससे मीडिया कवरेज मिलेगी और इससे अधिक कुछ और नहीं। यह भी निर्णय हुआ कि सड़क की भीड़ को अपनी बात संप्रेषित करने का लाभ नहीं बल्कि आस-पास के स्कूलों के हम उम्र साथियों को इस प्रयास से जोड़ना चाहिए। इस निर्णय प्रक्रिया में 8 वीं से लेकर 10 वीं तक के बच्चे शामिल थे। वे बात को मानने और अनुकरण करने के बजाए अपने मत रखने, रास्ता तलाशने और उससे और लोगों को जोड़ने का उपाय साच रहे थे। स्कूल के बच्चों ने तय किया कि वे अपनी बात एक नाटक के माध्यम से रखेगें। नाटक की विषयवस्तु थी कि 'आप आने वाले पीढ़ी के लिए क्या छोड़कर जाना चाहेगें?' इस सवाल के उत्तर में नाटक के भागीदार बच्चों ने निम्न जवाब दिए- पक्षियों की चहचहाट, वनस्पतियां, शाम की चौपाल (हमारे पूर्वज मिलकर बातचीत करते थे और समस्या का हल खोजते थे। यह तरकीब भविष्य में काम आएगी), किसान (जब किसान नहीं रहेगा तो फसल कौन उगाएगा? जल, जीव और वनस्पति की रक्षा कौन करेगा) कपास, खेत, स्वच्छ समुद्र, हरी सब्जी, चरखा, खनिज तेल, नदी, जंगल, मिट्टी। विद्यार्थियों को इन जवाबों और उनके समर्थन में तर्कों को अपने संवाद के रूप में लिखने और याद रखने को कहा गया। इसके आधार पर एक नाट्य प्रस्तुति तैयार की गई। अगले दिन इन बच्चों ने सेवाग्राम आश्रम में अपनी प्रस्तुति दी।

इस प्रस्तुति की पुनरावृत्ति विद्यार्थियों द्वारा पड़ौस के स्कूलों में भी की गई। आनंद निकेतन का यह उदाहरण बताता है कि प्रकृति और व्यक्ति के रिश्ते को समझने और समझाने जैसे बुनियादी कार्य का दारोमदार बच्चों ने खुद संभाला। यह कार्य अचानक से विस्फोटित नहीं हुआ बल्कि उनके स्कूल और निजी जीवन में व्याप्त दृष्टि का अवसर के अनुकूल प्रस्फुटन था। इसी कारण यह प्रयास तख्ती लेकर सड़क पर उतरने का कर्मकांड नहीं था। बल्कि बच्चों ने अपने स्थानीय कार्यों को वैश्विक संदर्भ में देखा। इसे नियोजित कर दूसरे बच्चों तक संप्रेषित किया। कुल मिलाकर देखा जाए तो यहां के बच्चों ने जो कार्य योजना बनाई वह हो-हल्ला बाजी न होकर वैश्विक समस्या के प्रति स्थानीय प्रतिक्रिया थी। इस प्रतिक्रिया में वे सरकार या राजनेताओं के खिलाफ प्रदर्शन न करके विषय को समझने और इससे संबंधित अपनी भूमिका को लेकर कार्य कर रहे थे। यदि उनके द्वारा किए नाटक को देखें तो इसकी विषयवस्तु बच्चे खुद क्या कर सकते हैं? पर केन्द्रित थी। जब वे पास के विद्यालय गए तो भी वे अपने जैसे बच्चों से अपनी चिंताएं साझा कर रहे थे। इस गतिविधि ने विद्यार्थियों में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना का विकास किया। वे अपने जैसे अन्य बच्चों को अभिप्रेरित करना चाह रहे थे। वे समाज-प्रकृति और स्वयं के रिश्ते की मनुष्य केन्द्रित धारणाओं से बाहर निकल रहे थे। आनंद निकेतन के इस प्रयास में बच्चे की एजेंसी सर्वप्रमुख थी। वे केवल बड़ों का अनुसरण करने वाले 'बच्चे' नहीं हैं बल्कि मननपूर्वक सामाजिक बदलाव की गुंजाइश को साकार करने वाले वर्तमान नागरिक हैं। आनंद निकेतन का प्रयोग बताता है कि सड़क पर बच्चों की भीड़ लेकर उतरने और दिखावा करने के स्थान पर हमें अपने शिक्षकों और बच्चों को मौका देना चाहिए कि वे पड़ताल करें कि उनके स्थानीय पर्यावरण और समुदाय की दिखने वाली और न दिखनेवाली 'सच्चाइयां' क्या हैं? इन सच्चाइयों के बीच जीवन की कौन सी चुनौतियां हैं? ये चुनौतियां कैसे सामाजिक-आर्थिक स्तर द्वारा निर्देशित हैं? और इसके क्या परिणाम हैं? इन स्थितियों में बदलाव के लिए वे क्या और कैसे कर सकते हैं? यद्यपि उनके करने का पैमाना छोटा होगा लेकिन ये छोटे कदम ही मिलकर बड़ी संभावना को साकार करते हैं? ◆

**लेखक परिचय :** सहायक प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा।

**संपर्क :** 7057392903; rishabhrkm@gmail.com

# अंधकारमय भविष्य की ओर

## बिहार की स्कूली शिक्षा

आलोक रंजन

न्यायालय में शिक्षा संबंधी मुद्दे का आना शिक्षा का विमर्श के केंद्र में आ जाना होता है और इसी बहाने उस पर बहस की गुंजाइश बन जाती है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखें तो शिक्षा चर्चा के प्राथमिक मुद्दों में से नहीं आती है। किसी आदर्श बहस या परिचर्चा में यह शब्द बार-बार उभर आए तो गनीमत है लेकिन आम फहम चर्चा में इसका आना भारत में चलन में नहीं है। बिहार के नियोजित शिक्षकों के खिलाफ राज्य सरकार का सर्वोच्च न्यायालय में जाना शिक्षा को कम से कम आम बिहारी परिवारों में चर्चा का विषय बना चुका है और बहुत संभावना है कि देश भर में संविदा पर काम कर रहे शिक्षकों को यह अपना भविष्य नजर आ रहा हो। राज्य सरकार का अपने यहां काम कर रहे नियोजित शिक्षकों के खिलाफ अदालत का रास्ता लेना दूसरे तरह से भी महत्वपूर्ण है। सरकार शिक्षा को आर्थिक संक्रिया की तरह देखती है। आर्थिक संक्रिया, मुनाफे और हानि के दायरे में ही देखी जा सकती है। इसमें राज्य के लगभग साढ़े तीन लाख नियोजित शिक्षकों के एक जैसे काम के बदले एक जैसा वेतन और सुविधाएं प्राप्त करने की उम्मीद का समाप्त हो जाना एक गहरे असंतोष की शक्ल ले सकता है। नियोजित शिक्षकों के इस सामूहिक असंतोष को इस लेख के माध्यम से समझा जाएगा और यह भी देखने का प्रयास होगा कि यह कक्षा की सामान्य गतिविधियों को कैसे प्रभावित करता है। बिहार के नियोजित शिक्षक की यह लड़ाई उतनी ही पुरानी है जितनी बिहार में शिक्षक भर्ती की यह नवीन व्यवस्था। ये शिक्षक लगातार अपनी मांगों को लेकर धरना-प्रदर्शन करते रहे हैं साथ ही अदालती रास्ता भी अपनाते रहे हैं। उनकी लड़ाई में अहम मोड़ पटना उच्च न्यायालय के फैसले से आया जिसमें राज्य सरकार को इन्हें समान कार्य के लिए समान वेतन और भत्ते देने का निर्देश दिया गया था। उच्च न्यायालय का यह फैसला बिहार सरकार पर बहुत बड़ा वित्तीय बोझ डालने वाला था सो सरकार ने सर्वोच्च न्यायालय के फैसले का विकल्प चुना।

नियोजन शब्द बिहार में काफी प्रचलित है और इसे आम तौर पर अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता। यह शब्द आम जनजीवन में हीनता का प्रतीक है लेकिन सरकारी तौर पर यह एक 'रामबाण' या 'संजीवनी' के रूप में स्वीकृत है। 2015 में आई युनेस्को की ग्लोबल मॉनिटरिंग रिपोर्ट भी यह मान चुकी है कि विकासशील देशों की सरकारें अपने खर्च को कम करने के लिए अपने यहां इस विधि से शिक्षकों की नियुक्ति करने लगी हैं। अर्थात सरकारी तौर पर खर्च कम करने का यह एक सर्वस्वीकृत माध्यम बन चुका है। खर्च में कटौती की यह तरकीब ही नियोजित शिक्षकों की नियुक्ति का आधार बनती है। बिहार सरकार ने बड़े पैमाने पर इस तरह की भर्ती की और देखते ही देखते 2006 से 2013 तक प्राथमिक स्तर पर शिक्षकों की संख्या दोगुनी हो गई। कम समय में शिक्षक-छात्र अनुपात को कम करने का यह सबसे कारगर तरीका साबित होता है।

स्थानीय निकायों को शिक्षकों की नियुक्ति में भागीदारी देने से अध्यापन में स्थानीय लोगों के आने का मार्ग प्रशस्त हुआ। इस तरह से देखा जाये तो यह शानदार तरीका था जिसने बिहार में रोजगार की एक बयार बहा दी। भर्ती होने वाले लोग किसी भी तरह से व्यवस्था का हिस्सा बनना चाह रहे थे। उन्हें लगता था कि बाद में वे सरकार पर दबाव डालकर अपने लिए बेहतर सुविधाएं और नियमित शिक्षक की तरह की नियमितता हासिल कर लेंगे। यह व्यवस्था रोजगार सृजन का बड़ा माध्यम बनी और सरकार को भी अपनी पीठ थपथपाने का मौका मिल गया। परिणामस्वरूप आज बिहार में साढ़े तीन लाख नियोजित शिक्षक हैं।

राज्य सरकार के आंकड़ों और बयानों को देखें तो विद्यालयों में विद्यार्थियों की उपस्थिती बढ़ने के संकेत मिलते हैं। इस संकेत के इतर बिहार के नियोजित शिक्षकों की नियुक्ति को देखना जरूरी हो जाता है। यह व्यवस्था सरकारी और सरकार द्वारा वित्त पोषित विद्यालयों में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए बहुत लाभकारी सिद्ध नहीं हो रही है। इसे समझने के लिए इसके पीछे के कारण देखे जा सकते हैं। जिनमें ज्यादातर नियोजन के कारण ही सामने आते हैं। यह व्यवस्था जिस पुरानी व्यवस्था के बरक्स लाई गई उसमें चयन से पहले तक एक अध्यापक को परखने की कई शर्तें थीं। निश्चित रूप से केवल उन शर्तों को पूरा करके ही कोई आदर्श शिक्षक नहीं बन सकता लेकिन वे अधिकतम संभावना खोज निकालने वाली शर्तें थीं। नियोजन के क्रम में बड़ी-बड़ी धांधलियां सामने आईं। पैसे लेकर नियुक्तियां, फर्जी डिग्री वालों की नियुक्तियां और नियुक्त लोगों की विषयों की समझ आदि वाले कई मुद्दे पिछले सालों में उभरे। कुछ लोगों की सेवा भी निरस्त हुई। लेकिन समग्र रूप में देखा जाये तो इन सब ने बिहार की विद्यालयी शिक्षा को गंभीर रूप से प्रभावित किया है। नियोजन वाले शिक्षकों के माध्यम से सरकार दूरदराज के क्षेत्रों में विद्यालय को लेकर तो पहुंच गई लेकिन वह शिक्षा के स्तर को उठाने में नाकाफी ही रहा। 2014 में प्रथम संस्था द्वारा किए गए देशव्यापी अध्ययन में सामने आया कि ग्रामीण क्षेत्र के 5 वीं के 47 प्रतिशत विद्यार्थी केवल दूसरी कक्षा की किताब पढ़ सकते हैं और केवल 25.6 प्रतिशत विद्यार्थी ही तीन अंकों की संख्या को एक अंक से भाग देने में सक्षम हैं। यह अध्ययन 'असर रिपोर्ट' के नाम से उपलब्ध है जिसमें बिहार के विद्यालय भी शामिल हैं। बिहार के विद्यालयों में रेखांकित करने योग्य कोई विशेषता नहीं देखी गई। गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करने की दिशा में बिहार सरकार द्वारा प्रयुक्त यह व्यवस्था अपने वेतन के ढांचे और नियुक्ति प्रक्रिया को लेकर दोषपूर्ण है। इसे समझने के लिए स्थानीय युवाओं के इस नौकरी के प्रति रुझान को समझना जरूरी है। बिहार और इससे बाहर पढ़-लिख रहे युवा इस नौकरी को अपनी प्राथमिकता में नहीं रखते। यह उनकी अंतिम शरणस्थली है। बिहार जैसा राज्य जहां के युवाओं में सरकारी नौकरी के प्रति झुकाव बहुत ज्यादा रहता है वहां यदि जी-तोड़ मेहनत के बाद पूरे वेतनमान की नौकरी मिल जाती है तो उसे श्रेयस्कर माना जाता है। कड़ी मेहनत के बाद भी सरकारी नौकरियों की कम संख्या के कारण हजारों युवा वंचित रह जाते हैं। उस स्थिति में अंतिम विकल्प के रूप में इस तरह की नियुक्ति को आजमाया जाता है। नियोजन पर शिक्षक भर्ती करने की जब शुरुआत हुई थी तब से लेकर आज तक इसमें ज्यादा अंक पाने वालों को ही तरजीह दी जाती रही है। परीक्षा के अभाव में उम्मीदवारों की छंटनी का एकमात्र तरीका यही रह जाता है। इससे बहुत अच्छे अंक वाले लोगों की नियुक्ति ही हो पाती है। अच्छे अंक या कोई बड़ी डिग्री एक बेहतर अध्यापक होने की गारंटी नहीं हैं। पढ़ाने संबंधी कुशलता का अभाव तो रहता ही है साथ में शिक्षण से संबंधित प्रशिक्षण की कमी भी रहती है। उनकी इसी स्थिति पर प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री प्रोफेसर कृष्ण कुमार ने इन्हें 'बेयरफुट डॉक्टर' कहा था। अरुचिकर काम, प्रशिक्षण का अभाव और सेवा से मिलने वाले वेतन के प्रति असंतुष्टि से कक्षा कक्ष में एक अध्यापक के प्रदर्शन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इनमें से कोई एक भी एक कक्षा के भीतर की स्थिति को प्रभावित करने के लिए काफी है यहां तो तीनों एकसाथ काम करते हैं। ऐसे में महत्वाकांक्षी नियोजित शिक्षक आय के दूसरे विकल्पों को भी खोजने लगते हैं।

यह जानने के लिए किसी गहन शोध की आवश्यकता नहीं है कि, एक ही विद्यालय में एक ही कार्य कर रहे दो अलग-अलग लोगों के वेतन में बड़ा विभेद हो तो कम वेतन प्राप्त करने वाले व्यक्ति पर इसका प्रभाव नकारात्मक ही पड़ेगा। उसकी कार्यक्षमता प्रभावित होगी। नियोजित शिक्षकों के मामले में यह देखा गया है कि उनके वेतन और काम की प्रकृति के हिसाब से उनकी सामाजिक स्वीकृति वह नहीं है जो नियमित शिक्षकों की है। उनके साथ लगा 'नियोजन वाले शिक्षक' का ठप्पा उनकी सामाजिक स्वीकृति को स्पष्ट करता है। यह कहना और सोचना गलत ही होगा कि इन सबसे उनके व्यक्तित्व और उनकी कार्यक्षमता प्रभावित नहीं होती। कम पैसे पर काम करना उन्हें दूसरे अन्य काम करने के लिए बाध्य करता है और उस स्थिति में जो समय विद्यालय व विद्यालय की तैयारी के लिए समर्पित होना चाहिए था वह आय के अन्य विकल्पों की तलाश में चला जाता है। इससे कक्षाओं का प्रभावित होना सामान्य बात है। नियोजित शिक्षकों के कम और असमान वेतन ने बिहार के विद्यालयी वातावरण को काफी प्रभावित किया है और इस वजह से अध्यापन के लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं की जा सकती।

नियोजित शिक्षकों को निराश करने के साथ-साथ बिहार सरकार और सर्वोच्च न्यायालय ने शिक्षा पर भी गंभीर चोट की है। यहां सुप्रीम कोर्ट में बिहार सरकार की दलील को देखना महत्वपूर्ण है। सरकार कहती है कि नियमित शिक्षकों की भर्ती में समय लगता है, दूसरे राज्यों के लोग आ जाते हैं फिर ट्रांसफर पोस्टिंग की समस्या आ जाती है इसलिए सरकार नियमित शिक्षकों की नियुक्ति नहीं करना चाहती। ये तर्क बचकाने हैं। यह सारी कवायद पैसे बचाने की है। नियमित शिक्षकों की भर्ती में समय लगने वाला तर्क मजबूत नहीं है। नियुक्तियों में समय लगता ही है और सरकारी तंत्र यदि चाहे तो उस प्रक्रिया को तेजी से भी सम्पन्न कर सकता है। सरकार हर नियुक्ति के लिए एक उपयुक्त समय सीमा तय कर सकती है। इसके बाद इस तर्क के दूसरे पहलू को देखें तो सरकार जिसे उपलब्धि बता रही है वह एक खामी के रूप में सामने आती है। राज्य सरकार ने नियोजित शिक्षकों की जितनी भी भर्तियां की उनके योगदान को मापने की, विद्यार्थियों में विषय की समझ की वृद्धि और उसके विकास को समझने की कोई तरकीब विकसित नहीं की गई, न ही इस संबंध में नियोजित शिक्षकों पर कोई जिम्मेदारी डाली गई। बस कागजी खानापूर्तियां होती रहीं। ऐसे में सरकार यदि कम समय में बहुत सारे शिक्षकों की भर्ती कर संयुक्त राष्ट्र, भारत सरकार आदि निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त कर भी लेते हैं तो उसका प्रभाव कुछ भी नहीं है। समय की इस बचत का लाभ कम से कम बिहार की शिक्षा व्यवस्था को नहीं मिला। निश्चित रूप से विद्यालयों में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ी है अब बड़ी संख्या में उन परिवारों से विद्यार्थी विद्यालय आने लगे हैं जहां से उनके आने की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। लेकिन उन विद्यार्थियों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा देने के उद्देश्य से बिहार की शिक्षा व्यवस्था भटक गई है। राज्य सरकार की आर्थिक नीति में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा न होकर पैसे बचना प्रमुख है। नियोजित शिक्षकों पर जो शोध हुए हैं वे कहीं भी यह सुझाते प्रतीत नहीं होते कि नियुक्ति की यह व्यवस्था गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के लिए उपयोगी है। सरकारी आंकड़ों को छोड़ कर गांव और शहरों के सरकारी विद्यालयों को देखने पर यह बात काफी स्पष्ट हो जाती है। ऐसे में सुप्रीम कोर्ट द्वारा सामान्य शिक्षक के काडर को खत्म करने की सिफारिश बिहार की शिक्षा व्यवस्था को गंभीर रूप से प्रभावित करेगी। विद्यालयी व्यवस्था में शिक्षक एक महत्वपूर्ण कड़ी है क्योंकि इससे छात्रों का भविष्य जुड़ा हुआ है। बिना प्रशिक्षण और बिना मानकों के की गई शिक्षकों की नियुक्ति ने पहले ही विद्यार्थियों की शिक्षा को नकारात्मक रूप से प्रभावित किया है। आज बिहार के सरकारी विद्यालय बस मिड डे मील और विभिन्न योजनाओं के वितरण स्थल बनकर रह गए हैं। इस स्थिति में सुप्रीम कोर्ट का यह निर्णय बहुत ही निराशाजनक साबित होने वाला है।

विद्यार्थियों की बढ़ी हुई संख्या साक्षारता के प्रसार को दर्शाती है जो निश्चित रूप से बिहार जैसे राज्य के लिए खुशी की बात है। लेकिन साक्षरता दर के बढ़ने को शिक्षा में वृद्धि और विस्तार नहीं कहा जा सकता। यहां बिहार के समाज सामाजिक गतिकी को समझना जरूरी हो जाता है। सरकारी विद्यालयों में आने वाले विद्यार्थी आवश्यक रूप से वंचित

संसाधनों वाले वर्ग से आते हैं। ऐसे माता-पिता जिनके पास थोड़ी भी समृद्धि है वे अपने बच्चों को निजी पूंजी से संचालित विद्यालयों में ही भेजते हैं। बिहार में आर्थिक विपन्नता का एक लगभग जरूरी संबंध जाति से बनता है। एक जातिवादी समाज में तथाकथित ऊंची जातियों के बहुत कम विद्यार्थी सरकारी विद्यालय में जाते हैं वहीं शेष विद्यार्थी उनसे इतर जातियों से आते हैं। यहां यह समझना कठिन नहीं रह जाता कि, सरकारी विद्यालयों में शिक्षा में गुणवत्ता संबंधी सुधार से किन विद्यार्थियों को मदद मिलती! अध्यापक किसी भी विद्यालय की महत्वपूर्ण कड़ी होते हैं। उनकी नियुक्ति में रुचि, सेवा पूर्व प्रशिक्षण, चयन की मानक पूर्ण प्रक्रिया और समय-समय पर शिक्षण में हो रहे बदलावों को समझने के लिए सेवा कालीन प्रशिक्षण बहुत मायने रखते हैं। ऐसा कहना एक सरलीकरण ही होगा कि नियोजित शिक्षकों में से सारे शिक्षक इन मानकों पर खरे नहीं उतरते हैं लेकिन बिहार की शिक्षा में सिवाय विद्यार्थियों की बढ़ी संख्या के अलावा किसी गुणात्मक परिवर्तन की अनुपस्थिति नियोजन वाली शिक्षण व्यवस्था पर बड़े सवाल खड़ी करती है। बिहार की विद्यालयी शिक्षा व्यवस्था को इस विकल्प के साथ रहते हुए लंबा वक्त हो गया है इसलिए अब इसके मूल्यांकन का वक्त आ गया है। यह मूल्यांकन सरकारी और सामाजिक सहभागिता दोनों ही तरह से जरूरी है।

शिक्षा को राजनीति से कभी अलग नहीं किया जा सकता। राजनीति शिक्षा को बहुत प्रभावित करती है। इसलिए राजनीतिक रूप से इस फैसले के प्रभाव का अनुमान लगाना कठिन नहीं है। करीब चार लाख नियोजित शिक्षक और उनके परिवार एक बड़ा वोट बैंक हैं। वोट बैंक की राजनीति के इस दौर में इन कर्मचारियों को उम्मीद थी कि लोकसभा चुनाव से पहले सरकार कुछ उनकी बात मानने के लिए तैयार हो जाएगी इसलिए वे सर्वोच्च न्यायालय से बाहर भी दबाव बना रहे थे। लेकिन लोकसभा चुनाव समाप्त होते न होते जो न्यायालय का निर्णय आया वह निराशाजनक रहा। वोट बैंक की राजनीति में दबाव समूह के रूप में इतनी बड़ी संख्या का होना मायने रखता है। इसलिए बिहार राज्य के विधान सभा चुनाव से पहले दबाव बनाने की प्रक्रिया फिर से शुरू होने की संभावना है और राज्य भर में इसकी गूंज उठने वाली है। लेकिन विडम्बना यह है कि वह गूंज शिक्षा के स्तर को लेकर नहीं बल्कि नियोजित शिक्षकों द्वारा अपने लिए कुछ हासिल करने के लिए होगी। अपने खर्च में कटौती करने वाली सरकार के लिए भी यह स्थिति सुखद ही होगी कि नियोजित शिक्षकों के वेतन में थोड़ी बहुत वृद्धि से खजाने पर वह बोझ नहीं पड़ेगा जो नियमित शिक्षकों के होने से पड़ता साथ ही लोकप्रियता भी हासिल होगी। यह दोनों ही पक्षों के लिए 'विन विन सिचुएशन' वाली स्थिति होगी। इससे शिक्षा का स्तर कितना प्रभावित होगा यह समझना कठिन नहीं है। ◆

**लेखक परिचय :** प्रारंभिक शिक्षा बिहार में तथा उच्च शिक्षा दिल्ली विश्वविद्यालय से। संप्रति केरल में अध्यापन।
**संपर्क :** alokranjan7@gmail.com

# मैं 'विज्ञान' क्यों चुनूं?

प्रेरणा शर्मा

''नंबर नहीं आये तो साइंस नहीं मिलेगी!!''
''नहीं पढ़ोगे तो आर्ट्स लेनी पड़ेगी।''
''साइंस नहीं मिली तो आगे जाकर क्या करोगे?''

हर साल ऐसे ही कुछ जुमले हमें हर उस घर में सुनाई देते हैं जहां कोई दसवीं का छात्र होता है। उस छात्र के लिए विज्ञान की जीवन में महत्वता की समझ बनाने में ऐसी टिप्पणियों का खासा योगदान रहता है। ऐसे ही कुछ संवाद जिन्हें वह अपनी रोजमर्रा के छात्र जीवन में सुनता आया है, विज्ञान व विज्ञान के छात्रों की कुछ अलग ही छवि बनाने का काम करते हैं। ये टिप्पणियां और विज्ञान के छात्र की सामाजिक छवि कहीं न कहीं हमारे उच्च माध्यमिक स्तर के स्कूली बच्चों को विषय का चुनाव करते समय प्रभावित करती हैं। उच्च माध्यमिक स्तर पर अपने विषय या 'स्ट्रीम' का चुनाव करना एक महत्वपूर्ण निर्णय माना जाता है। इसमें छात्र अपनी रुचि, हित और जीवन लक्ष्य को ध्यान में रखकर वह विषय चुनता है जिसे वह पढ़ने का इच्छुक है, या जिसे वह आगे जाकर अपना कार्य-क्षेत्र बनाना चाहता है। लेकिन विज्ञान के शिक्षक के तौर पर जब मैंने वर्तमान शिक्षा प्रणाली में विज्ञान का एक विषय के रूप में विश्लेषण किया तो कुछ ऐसे तथ्यों को पाया जो एक छात्र को विज्ञान को अपने मूल विषय के रूप में चुनने पर कुछ सवाल खड़े करते हैं। यह सवाल शिक्षकों के लिए बहुत महत्व रखते हैं। उनके लिए यह जानना आवश्यक है कि क्या वर्तमान शिक्षा प्रणाली में विज्ञान एक विषय के रूप में एक छात्र की ज्ञान की अभिलाषा को पूर्ण करने में सक्षम है, या इसका अस्तित्व केवल एक अंक प्राप्त कर लेने वाले विषय तक ही सीमित रह गया है?

एक विषय के रूप में विज्ञान का अध्ययन वैज्ञानिक क्षमता और आलोचनात्मक सोच का विकास करता है। विज्ञान हमें तार्किक और रचनात्मक सोच रखने और प्रस्तुत करने में सक्षम बनाता है। अपने वातावरण के प्रति जिज्ञासा और रुचि से निकलने वाले सवालों और उनके जवाब तक पहुंचने का साधन विज्ञान ही है। क्या हम विज्ञान को एक ऐसे विषय के रूप में देख पा रहे हैं, जो अपने निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त करने में सक्षम है? या फिर यह एक ऐसे विषय के रूप में तब्दील हो चुका है, जो व्यक्तिगत तौर पर हमें बुद्धिजीवियों में शामिल होने के अधिक अवसर प्रदान करता है? क्या विज्ञान वर्ग के विषय एक ऐसी सामाजिक धारणा से पीड़ित हैं जहां विज्ञान विषयों को एक अच्छे कैरियर, बौद्धिक क्षमता और समाज में प्रतिष्ठा पाने की कुंजी समझा गया है?

एक ओर एन.सी.एफ (NCF) जहां संरचात्मक अधिगम, करके सीखना (लर्निंग बाय डूइंग) और प्रायोगिक ज्ञान के बारे में बात करता है, वहीं शायद उच्च माध्यमिक शिक्षा में आते-आते हमारे ध्यान का केंद्र 'छात्र ने क्या सीखा' से हटकर परीक्षा में प्राप्त किए गए 'अंक' पर आ जाता है। अंक छात्रों की वैज्ञानिक क्षमता,

तर्कसंगत सोच और आलोचनात्मक रवैए का मापदंड बन जाते हैं। जब हम विज्ञान शिक्षण के बारे में बात करते हैं, तब भी अंकों को उसकी गुणवत्ता के प्रतिबिम्ब के रूप में देखा जाता है। वैज्ञानिक प्रक्रियाओं को समझने और निजी जीवन से जोड़ने के विरुद्ध हमारा विज्ञान शिक्षण उच्च स्तर पर तथ्यों को याद कर पाने, और उन्हें परीक्षा में कागज पर उतार अंक प्राप्त करने पर केंद्रित हो गया है। विज्ञान शिक्षा को लेकर हमारा दृष्टिकोण उत्पाद पर अधिक केंद्रित है, जो कि हाल के परिदृश्य में 'अंक' हैं। हम विज्ञान पढ़ने-पढ़ाने के दौरान मिलने वाले अनुभव और प्रक्रिया कौशल को महत्व देने में असमर्थ रहे हैं। विज्ञान विषय की प्रकृति का मूल आधार प्रयोग पर आधारित होता है। अगर इस प्रकृति को प्रयोगशाला विज्ञान शिक्षण के संदर्भ देखा जाए, तो वहां भी एक प्रकार का विरोधाभास है। विज्ञान प्रयोगशाला का उद्देश्य छात्रों को वैज्ञानिक ज्ञान की खोज के लिए अवसर प्राप्त करना है, लेकिन इसके विपरीत यह प्रयोगशालाएं सिर्फ छात्रों को रटाए गए तथ्यों की पुष्टि करने तक ही सीमित हो कर रह गई हैं। एन.सी.एफ द्वारा विज्ञान शिक्षण के लक्ष्यों को कक्षा में व्यावहारिक रूप न दे पाना हमारे शिक्षकों की असमर्थता को जताता है। इस असमर्थता को केवल शिक्षकों की तरफ से होने वाली कमियों का नतीजा नहीं माना जा सकता है। यह विज्ञान शिक्षा के वर्तमान परिदृश्य में पेश आने वाली समस्याओं की ओर इशारा करता है। स्पष्ट है, कि जो विज्ञान शिक्षण छात्र की जिज्ञासा को शांत करने में असमर्थ हो और छात्र को वैज्ञानिक क्रियाओं की समझ बनाने के अवसर न दे पाए, वह विज्ञान शिक्षण अपने उद्देश्यों की पूर्ति कर पाने में असफल माना जाएगा। ऐसे में एक छात्र जिसे वैज्ञानिक शिक्षा मिलने का पूरा अधिकार है, वह क्यों विज्ञान विषय के एक ऐसे रूप को चुने, जो अपनी निर्माणात्मक प्रकृति के विपरीत मात्र तथ्यों की जानकारी पर आधारित है?

विज्ञान को अपनी उच्च स्कूली शिक्षा के लिए 'स्ट्रीम' के रूप में चुनना एक ऐसा निर्णय है जिसमें छात्र की रूचि बहुत प्रभावशाली भूमिका निभाती है। लेकिन जब व्यावहारिक वास्तविकता की बात आती है, तो यह निर्णय एकमात्र छात्र की रुचि पर ही आधारित नहीं होता। ऐसे अनेक कारण हैं जो छात्र के इस निर्णय को प्रभावित करते हैं, जिसमें से प्रथम कारण है, उच्चतम अंकों की प्राप्ति। परिणाम की घोषणा होते ही सबसे पहले विषय क्या चुना जाएगा इसका अनुमान लगाया जाता है। इस अनुमान का आधार होता है छात्र द्वारा लाए गए अंक। अंकों के आधार पर विषय के चुनाव को लेकर कुछ धारणा बना ली जाती है और इस धारणा में छात्र की रुचि व लक्ष्य की कोई भूमिका नहीं होती। एक आम धारणा के अनुसार जिस छात्र के अंक ज्यादा, वह विज्ञान चुनने और पढ़ने के लिए उतना ही योग्य। वास्तव में स्ट्रीम का चुनाव करते हुए, अधिक अंक पाना ही लोगों के लिए एक स्वयं निर्धारक मानक होता है, भले ही इस प्रक्रिया में बच्चे की रुचि की अनदेखी क्यों ना हो जाए। एक शिक्षक के तौर पर यह सवाल मुझे हमेशा परेशान करता है, कि क्या उच्च अंक लाने वाला छात्र, विज्ञान का 'विषय' के रूप में चुनाव करता है? या फिर, चूंकि उसके अधिक अंक आए हैं इसलिए उसे विज्ञान विषय के लिए उपयुक्त माना जाता है? यह सवाल असाधारण रूप से बहुत महत्वपूर्ण है, कि क्या अंक वह कारक है जो तय करता है कि छात्र के पास एक विशिष्ट विकल्प है या नहीं? और क्या इस स्थिति में रुचि की कोई भूमिका नहीं होती?

इस संदर्भ में विज्ञान विषय के छात्र की एक अलग-सी 'सामाजिक छवि' दूसरा ऐसा कारण जो प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट नहीं है। हमारे समाज में विज्ञान के छात्र को बहुत से विशेषणों से संबोधित किया जाता है जैसे कि मेधावी, कुशल, बुद्धिमान, मेहनती, विवेचनात्मक इत्यादि। यह धारणा इन छात्रों को एक विशेष सार्वजनिक स्तर देते हैं। चिंताजनक बात ये है कि छात्रों के लिए इस छवि का लोभनीय होने का कारण विज्ञान के अलावा दूसरे विषय पढ़ने वाले छात्रों को मेधावी न समझा जाना भी है। विषय के चुनाव में यह सामाजिक छवि भी बहुत प्रभावशाली भूमिका निभाती है। यहां सवाल यह उठता है कि क्या छात्र ने अपनी रुचि को महत्व देने की बजाय, समाज से मिलने वाली प्रतिष्ठा से प्रभावित होकर विज्ञान को विषय के रूप में चुना है? दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि अगर छात्र ने प्रतिष्ठा से प्रभावित होकर विज्ञान को विषय के रूप में चुना है, तो उसकी स्वयं को लेकर क्या धारणा या छवि बनी है? स्पष्ट है कि यही धारणा या छवि आगे चलकर बच्चे के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक व्यवहार को प्रभावित करती है, इसलिए इस धारणा या छवि को मनोवैज्ञानिक नजरिये से समझना बहुत ही आवश्यक है।

विज्ञान को अपने मूल विषय के रूप में चुन लेना मात्र ही अंत नहीं है। अपनी 'स्ट्रीम' का निर्णय छात्र के करियर निर्धारण में अहम भूमिका निभाता है, पर क्या सिर्फ विज्ञान विषय चुन लेना करियर की सफलता को सुनिश्चित करता है? स्कूली शिक्षा में विज्ञान को एक स्ट्रीम के तौर पर चुनना केवल इस लक्ष्य की ओर अग्रसर होने की वाली पहली सीढ़ी की तरह है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या हमारी शैक्षिक प्रणाली में शैक्षिक निर्देशन और परामर्श (गाइडेंस एवं काउंसलिंग) की कोई प्रक्रिया मौजूद है? क्या ये प्रक्रिया माध्यमिक और उच्च माध्यमिक स्तर के छात्रों को विज्ञान से उत्पन्न हुए उन विभिन्न करियर विकल्पों से अवगत करवाती है जिसे वह भविष्य में अपने जीवनयापन का साधन बना सकते हैं? इस प्रकार की प्रक्रिया से विज्ञान शिक्षण की सीमाएं केवल इंजीनियरिंग या मेडिकल तक ही सीमित नहीं रह जाएंगी। छात्र अपना भविष्य इनके अतिरिक्त और भी वैज्ञानिक क्षेत्रों में देख पाएंगे। इसी के साथ-साथ शैक्षिक निर्देशन और परामर्श की मनोवैज्ञानिक महत्ता भी है। उचित निर्देशन एवं परामर्श से छात्र अपनी खूबियों और चुनौतियों से परिचित हो जाते हैं और अपने अनुकूल विषय चुन पाने में सक्षम होते हैं। यह उन्हें विविध करियर विकल्पों को चुनने में सहायता करता है।

इंजीनियरिंग या मेडिकल के अलावा सबसे ज्यादा प्रचलित है, विज्ञान विषय में स्नातक (ग्रेजुएशन) की पढ़ाई जो छात्र को भविष्य में विभिन्न कार्य-क्षेत्र में स्थापित करने में सहायक होती है। बड़ी संख्या में जो छात्र विज्ञान में ग्रेजुएट होते हैं, वे आगे चलकर वैज्ञानिक अनुसंधान को अपने पेशे के रूप में चुनते हैं। अगर आंकड़ों को देखा जाए तो वैज्ञानिक अनुसंधान और विकास पर कुल जीडीपी का मात्र 0.8 प्रतिशत हिस्सा ही खर्च किया जाता है। यदि हम इसकी तुलना अन्य देशो से करें जैसे कि चीन (2.1 प्रतिशत), अमेरिका (2.8 प्रतिशत), इजराइल (4.3 प्रतिशत), जापान (3.1 प्रतिशत), तो भारत में यह दर निम्न स्तर पर है। वैज्ञानिक अनुसंधान पर इतने कम निवेश के साथ, हम उन विद्यार्थियों के लिए, जो मेडिकल और इंजीनियरिंग के अतिरिक्त अन्य विज्ञान विषयों का अध्ययन करते हैं, यह उम्मीद कैसे लगा सकते हैं की उन्हें भविष्य में सफल रोजगार के अवसर मिलेंगे? इन आंकड़ों को देखते हुए विज्ञान स्ट्रीम का चयन करना कहां तक एक न्यायसंगत चुनाव कहा जा सकता है?

स्कूल जाने वाले छात्रों की संख्या के आंकड़ों से भी एक महत्वपूर्ण सवाल उठता है। अगर हम उच्च माध्यमिक स्तर में नामांकित छात्रों के लिए पांच वर्षीय आंकड़ों को देखें, तो 2013 से 2017 तक छात्रों की संख्या 1.99 करोड़ से बढ़कर 2.43 करोड़ हो गई है। इनमें से 2012-2013 में जहां सिर्फ 40.3 लाख छात्रों ने विज्ञान को स्ट्रीम के तौर पर चुना था, वहीं 2017-18 में 71.7 लाख बच्चों ने विज्ञान का चयन किया। लेकिन यदि इस संदर्भ में शिक्षण व्यवस्था का विश्लेषण किया जाए, तो यह देखना रोचक होगा कि बच्चों की संख्या के अनुपात में क्या इंजीनियरिंग व मेडिकल संस्थाओं की संख्या में भी वृद्धि हो रही है? या फिर, मौजूदा संस्थाओं की सीटों में कोई बढ़त हो रही है या नहीं? अगर यह वृद्धि हो रही है तो इसमें सरकारी संस्थाओं की कितने प्रतिशत भागीदारी है? यदि यह वृद्धि उचित अनुपात में हो रही है अर्थात स्कूल जाने वाले छात्रों की संख्या की वृद्धि के अनुपात में सीटों की संख्या बढ़ रही है, तो इसके परिणामस्वरूप हर छात्र को प्रवेश पाने का एक उचित अवसर मिलता है। इसके विपरीत यदि छात्रों की संख्या की वृद्धि के अनुपात में सीटों की वृद्धि नहीं होती है, तो संस्थाओं में प्रवेश पाने का सारा बोझ छात्रों पर आ जाता है और यह एक जुझारू प्रक्रिया का रूप ले लेती है। ए.आई.एस.एच.ई. के आंकड़ों के मुताबिक वर्ष 2013 से 2017 तक इंजीनियरिंग के 60 व मेडिकल के 109 नए कॉलेज खुले हैं।

अगला अहम सवाल कुकुरमुत्ते की तरह फैलते हुए उन प्राइवेट संस्थानों पर उठता है जो सरकारी संस्थानों में सीमित सीटें होने के कारण छात्रों के लिए एक अहम विकल्प की तरह उभर रहे हैं। वर्ष 2013-2014 में कुल कॉलेजों में से प्राइवेट कॉलेज का अनुपात 75 प्रतिशत था। वर्ष 2017-18 में यह अनुपात बढ़कर 78 प्रतिशत पर आ चुका है व कुल नामांकन में से 67.3 प्रतिशत छात्र इन्ही संस्थानों में पढ़ते हैं। जो छात्र सरकारी संस्थानों में प्रवेश पाने में असफल रह जाते हैं, वह अपने डॉक्टर या इंजीनियर बनने के लक्ष्य को पूरा करने के लिए इन प्राइवेट संस्थानों का हिस्सा बन जाते हैं। एस्पायरिंग माइंड्स द्वारा दी हुई हाल ही की एक रिपोर्ट के अनुसार 80 प्रतिशत इंजीनियरिंग ग्रेजुएट अपने

कार्यक्षेत्र में कार्यभार संभालने में निपुण नहीं हैं, जिस कारणवश वह उपयुक्त नौकरी पाने में असमर्थ हैं। इतने आर्थिक निवेश और कठोर परिश्रम के बावजूद शिक्षा संस्थानों की गिरती हुई गुणवत्ता के कारण अगर छात्र बेरोजगारी या अल्परोजगार से जूझता रहे, तो क्या हम विज्ञान विषय को किसी छात्र के लिए सार्थक चुनाव मान सकते हैं? इस संबंध में यह देखना भी बहुत आवश्यक है कि हमारी सरकार का प्राइवेट संस्थानों की बढ़ती हुई संख्या और उनकी गिरती हुई गुणवत्ता को लेकर क्या रुख है? इस पर क्या कोई नीतिगत फैसले लिए जा रहे हैं? जो छात्र विज्ञान विषय को अपने भविष्य के कार्यक्षेत्र के रूप में देखते हैं क्या उनके पक्ष में कुछ फैसलों पर अमल किया जा रहा है?

शिक्षाशास्त्र में जहां हम रुचि आधारित अधिगम को सर्वाधिक प्राथमिकता देते हैं, वहीं शायद हम उन अधिकांश कारणों को अनदेखा कर देते हैं, जो छात्र के शैक्षिक जीवन का निर्धारण करने में प्रभावकारी होते हैं। उच्च माध्यमिक स्तर पर विषय का चुनाव करना सिर्फ रुचि या विज्ञान की ओर झुकाव के आधार तक सीमित नहीं है। अपितु इसके साथ साथ सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और व्यावसायिक कारक भी इसमें महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। अपने आसपास की घटनाओं को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझने के लिए विज्ञान के प्रति रुचि, जिज्ञासा और झुकाव से प्रेरित होने वाला निर्णय अब भिन्न प्रकार के प्रश्नों से प्रभावित होता है। अगर छात्रों के इस निर्णय को एक बड़े संदर्भ में रखते हैं, तो हम छात्र को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों के साथ इसे एक अलग दृष्टिकोण से देख सकते हैं। सामाजिक भूमिका, शैक्षिक पद्धति में गुणवत्ता की कमी, अंकों के आधार पर शिक्षा का मूल्यांकन, शैक्षिक संस्थाओं का गिरता स्तर, व्यावहारिक-सैद्धांतिक शिक्षा में असमानता, सीमित विकल्प आदि बहुत से कारक हैं जो विशेष भूमिका निभा रहे हैं। शिक्षा-शास्त्री होने के नाते इस प्रक्रिया में हमें छात्र की भूमिका का विश्लेषण करने की आवश्यकता है। सवाल यह है कि किस प्रकार विभिन्न कारक छात्र द्वारा लिए जाने वाले निर्णय में छात्र की भूमिका को सीमित करते जा रहे हैं?

अगर हम आने वाले समय में विज्ञान शिक्षण को उसके उद्देश्यों तक पहुंचाने में सक्षम होना चाहते हैं, तो यह अत्यंत महत्वपूर्ण है कि हम अपने विचार विमर्श के केंद्र में इन सवालों को भी रखें और इस संदर्भ में वर्तमान शिक्षा प्रणाली का विश्लेषण करें। ◆

**लेखिका परिचय :** जामिया मिलिया इस्लामिया विश्वविद्यालय में शोधार्थी हैं।

**संपर्क :** prerna.jamia@gmail.com

## संदर्भ

- Department of higher education. (2018) All India Survey on Higher Education 2017-18. New Delhi. Ministry of human Resource Development. Government of India. Retrieved April 19, 2019 from http://aishe.nic.in/aishe/viewDocument.action?documentId=245
- Department of higher education. (2013) All India Survey on Higher Education 2012-13. New Delhi. Ministry of human Resource Development. Government of India. Retrieved April 19, 2019 from http://aishe.nic.in/aishe/viewDocument.action?documentId=194
- Department of Science and Technology. (2018) Research and Development Statistics at a Glance 2017-18. New Delhi. Ministry of Science and Technology. Government of India. Retrieved April 20, 2019 from http://www.dst.gov.in/research-and-development-statistics-2017-18-december-2017
- https://www.aspiringminds.com/research-articles/why-are-indian-engineers-unemployable https://economictimes.indiatimes.com/news/economy/finance/indias-rd-spend-stagnant-for-20-years-at-0 7-of-gdp/articleshow/62697271.cms
- https://www.nature.com/articles/d41586-018-01504-5

R.N.I.No.RAJHIN/1999/0359 शिक्षा विमर्श

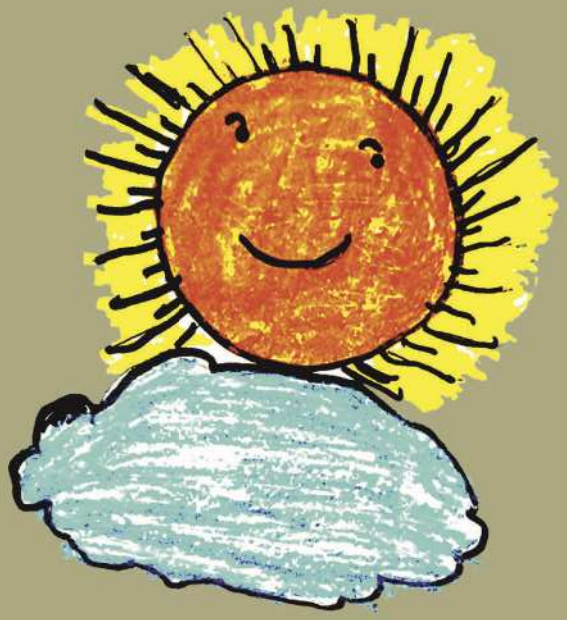

उन्नति बत्रा

30 अप्रैल, 2012 को दुनिया में आईं और फिलहाल कक्षा तीन में पढ़ती हैं। उन्नति कला के माध्यम से दुनिया को बदलने की फिराक में हैं। हाजिरजवाब उन्नति को लाल, नारंगी और काला रंग ज्यादा पसंद हैं। उन्नति राजस्थान के हनुमानगढ़ जिले के रावतसर में एक निजी विद्यालय में पढ़ती हैं और हनुमानगढ़ के पल्लु कस्बे में अपने माता-पिता के साथ रहती हैं। उनकी मां नमीता राज पेशे से शिक्षिका हैं।

दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर के लिए सुश्री रीना दास द्वारा भालोटिया प्रिंटर्स, 1/398, पारीक कॉलेज रोड, जयपुर-302006 से मुद्रित एवं दिगन्तर, खो नागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302017 से प्रकाशित